13

यहिन्द-काव्य

सम्पादक : श्री चन्द्र

एस० चांद एण्ड कम्पनी, दिल्ली।

जय हिन्द-काव्य

सम्पादक

श्री चन्द्र

प्रकाशक

एस० चांद एण्ड कम्पनी

फव्वारा, दिल्ली

प्रकाशक :

जी० एस० शर्मा

एस० चांद एण्ड कम्पनी, दिल्ली।

मूल्य : दो रुपये

१९४८

प्रथम बार : १०००

मुद्रक :

एलबियन प्रेस

काश्मीरी गेट, दिल्ली।

नव-भारत

की सेवा में

श्रद्धा भक्ति पूर्वक

समर्पित

तालिका

आधुनिक युग (उत्तर काल)

जयहिन्द—काव्य

विद्यार्थियो ! तुमको विदित है कि हमारा भारतवर्ष अब पराधीन नहीं, स्वाधीन है। किन्तु खेद का विषय है कि हमारे देश की जनता की कोई सामान्य भाषा नहीं जिसे देश के सब लोग बोल सकें और समझ सकें। जानकार लोगों का कहना है कि हिन्दी भाषा ही हमारे देश की राष्ट्र भाषा, सुगमता पूर्वक बन सकती है।

शीघ्र ही हिन्दी, देश की राष्ट्रभाषा बन जायगी। तुम्हें सबको दिल लगाकर हिन्दी सीखनी चाहिए; बिना हिन्दी सीखे अब काम न चलेगा। हिन्दी सीखने के अनेक उपाय हैं। सबसे उत्तम उपाय यह है कि आप लोग हिन्दी में लिखी कविताओं को मन लगाकर पढ़ें। कवि के आशय को समझें। शब्दों को तोल-तोल कर पढ़ें, शैली पर विचार करें, और समझें कि किस भाव को प्रकट करने के लिए कवि ने कौन-सा शब्द चुना है ! इस प्रकार तुम्हारी विचार शक्ति बढ़ेगी और साथ ही साथ अपने विचारों को उचित शब्दों द्वारा प्रकट करने की भाषण-शक्ति में वृद्धि होगी।

आरम्भ में तुम्हें चाहिए कि तुम उसी भाषा में लिखी वि   ा को पढ़ो, जो भाषा तुम्हारी बोल-चाल में प्रचलित है और जिसे तुम सरलता से, घर में या बाहर, रोज़मर्रा बोलते हो !

भाषा-विज्ञान के इस नियम के अनुसार, जिसका अनुसरण करने से भाषा का बोध सुगमता से प्राप्त होता है, हमने अपनी इस पुस्तक को खड़ी बोली के काव्य से, जिस बोली को हम रोज़मर्रा बोलते हैं और जो हमारी मातृ-भाषा है, आरम्भ किया है ! वर्तमान काल से आरम्भ करके हम भूतकाल की ओर चले हैं। ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने में शिक्षा सुगम हो जाती है।

यह हमारी इस पुस्तक की प्रथम विशेषता है — इतर हिन्दी-काव्य-संग्रहों में पुरानी हिन्दी कविता से आरम्भ करके आधुनिक हिन्दी की ओर चलते हैं।

यह क्रम शिक्षा को सुगम रूप से प्रदान करने के नियम के विपरीत है।

अपरिचित-भाषा के काव्य का पाठारम्भ करने से बालकों को काव्य दुरूह मालूम पड़ता है और उनकी रुचि काव्य में उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार हिन्दी की उन्नति में बाधा होती है। यह बात न भूलनी चाहिए कि बोल-चाल की भाषा का काव्य पढ़ने ही से बोल-चाल की भाषा समुन्नत हो सकती है, हमारा ध्येय तो यह ही है कि बोल-चाल की सजीव हिन्दी का प्रचार हो न कि उसके अमृत स्वरूप का! आधुनिक भाषा के रूप को भली प्रकार समझने के लिए प्राचीन भाषा को भी पढ़ा जाता है। इसलिए आधुनिक हिन्दी-काव्य का अध्ययन मुख्य है और प्राचीन का गौण! यह बात हम तुम्हारे लिए ही लिख रहे हैं। जो अब हिन्दी कविता का पाठ आरम्भ करने वाले हैं। आगे चलकर जब तुम्हारा भाषा का ज्ञान प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होगा तब अर्वाचीन के स्थान में प्राचीन हिन्दी भी अध्ययन का मुख्य विषय बन सकती है!

दूसरी विशेषता इस पुस्तक की यह है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य में से भी हमने उन ही कविताओं को चुना है, जो आधुनिक युग की प्रमुख भावना की प्रतीक हैं। देश-प्रेम, मानवता, साम्यवाद—ये ही इस युग के प्रमुख लक्षण हैं। इनका हमारे हृदय पर प्रभुत्व है। इसलिए तुम्हारे सामने ऐसी कविताएँ उपस्थित की हैं जिन्हें तुम युग-धर्म के अनुकूल रुचिपूर्वक पढ़ सको और मनोरंजन के साथ-साथ, कविता का संदेश तुम्हारे दिल में घर कर ले और तुम्हारा इस प्रकार चरित्र संगठन हो जिससे तुम्हारा अपना, और देश समाज का

कल्याण हो ! आरम्भ में, इस प्रकार ध्यान की एकाग्रता से, काव्य को समझने की तुम्हारी शक्ति तीव्र होगी और भाषा पर विशेष रूप से प्रभुत्व अथवा अधिकार प्राप्त होगा। इतर काव्य-संग्रहों में हमें यह दोष दिखाई पड़ता है कि उनमें आरम्भ ही से बे-मेल कविताएं इधर-उधर से उठाकर धर दी जाती हैं, जिसका यह परिणाम होता है कि बालकों के हृदय पर काव्य का प्रमुख संदेश अंकित नहीं होने पाता। यह रसव्यामिश्रण, अरुचिकर और हिन्दी की शीघ्र उन्नति के लिए हानिकारक है !

राष्ट्रवाद हमारे युग का विशेष धर्म है, इसलिए हमने इस पुस्तक में राष्ट्रवाद की कविताओं को प्रधानता दी है और इसी राष्ट्रवाद की एक धारा की खोज में हम पिछले युग-युगान्तरों की ओर चल पड़े हैं, और पिछले युगों की कविता का आधुनिक युग से समन्वय प्राप्त करने की चेष्टा की है। ऐसा करने से हमारा यह तात्पर्य है कि युग-युगान्तर के काव्य-रस की एकतानता से, नवयुग के नवभारत का उज्ज्वलस्वरूप भली प्रकार दृष्टिगोचर हो सके और भूत और वर्तमान काल के सामञ्जस्य द्वारा भविष्यत्काल में सामञ्जस्य प्राप्त हो, जो हमारा ध्येय है ! इस धारणा से यदि तुम इस पुस्तक को पढ़ोगे तो तुम्हें विदित होगा कि किस प्रकार नव-भारत के निर्माण में आरम्भ-काल से हिन्दी के प्रमुख कवियों का हाथ है ! इस दृष्टि से तुम देखोगे कि आधुनिक कविता के साथ प्राचीन कविता का पाठ किस प्रकार सफल हो सकता है। उदाहरणार्थ इस पुस्तक में दी हुई गांधीवाद की आधुनिक कविता के संदेश से बारहवीं शताब्दी के हेमचन्द्र की आदि-काल की कविता ३९ नंबर से, जिसमें सज्जन के लक्षण गिनवाये हैं, तुलना कर-लो तुम्हें प्रतीत होगा कि आज से आठ सौ वर्ष पूर्व, हेमचन्द्र के अन्तस्तल में गांधी के आकार का जन्म हो चुका था ! एक हज़ार वर्ष की आयुवाली हिन्दी कविता ने अनेक यातनाओं के उपरान्त नवभारत

के प्रतीक गांधी को उत्पन्न किया ! नवभारत प्राचीन भारत का ही रूपान्तर है !

अखंडभारत चिरंजीवी है ! इस पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि इसमें आधुनिक युग के उसी काव्य को सम्मिलित किया गया है जो न केवल भाव-पूर्ति है किन्तु जिसकी भाषा भी सरल है। वह ही भाषा सरल कहलाती है जो लोगों की समझ में आ सके। लोगों के कान जिसके शब्दों से परिचित हों। सब जानते हैं कि जयशंकर 'प्रसाद' की कामायनी की भाषा संस्कृतमयी होने से कितनी दुरूह है। किन्तु देखा जाता है कि प्रारम्भिक पुस्तकों में भी कामायनी के उद्धरण बालकों के पढ़ने के लिए छाप दिये जाते हैं, जो उनकी समझ से बाहर हैं इससे बालकों को क्या लाभ ! हम तो यह कहेंगे कि मध्यकाल के जायसी की पद्मावत के अवधी पाठ को भी आगे के लिए उठा रखा जाय। किन्तु भूषण में वीररस प्रधान होने के कारण हम उसे नहीं छोड़ सकते, उसकी भाषा का बोध कराना आवश्यक है, हमने उसके पदों की व्याख्या इस पुस्तक में छाप दी है। इससे विद्यार्थियों की कठिनाई दूर हो जायेगी। इतर संग्रहों में शृंगार रस की कविता को भी प्रारम्भिक पाठों में सम्मिलित किया गया है। यह सर्वथा निन्दनीय है। हमने इस पुस्तक में हिन्दी के प्राचीन-रूप की भाषा के उन्हीं पदों का समावेश किया है जो नव-भारत के नव-जीवन के नव नवोन्मेष में सहायक प्रतीत होते हैं काव्य का प्रयोजन भी तो यह ही है कि नव जीवन का संचार तथा सुधार हो; इसलिए ऐसे काव्य के पढ़ाने से क्या लाभ जिसका बालकों के लिए आगामी जीवन में कोई उपयोग ही नहीं ! हमने इस पुस्तक में ऐसे पदों का ही संग्रह किया है। जिनको पढ़ने से बालकों के जीवन पर ऐसा अच्छा प्रभाव पड़े कि वह सच्चरित्र बन सकें और उनका जीवन सफल हो।

बालको, यदि स्वतन्त्र भारत में तुम्हारे जीवन को सक्रिय, सत्यशील,

पराक्रमी तथा परोपकारी बनाने में यह 'जय हिन्द-काव्य, तनिक भी उपयोगी हो तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। आशा है कि हिन्दी-क्षीरसागर के इस अमृत-मन्थन से आप भली प्रकार लाभ उठा-कर, नवभारत की अमर कीर्ति को बढ़ाने में सहायक होंगे। यह ही इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है।

जय हिन्द !

कवि-परिचय

१ हेमचन्द्र सूरि (बारहवीं शताब्दि) जैन साधु। आचार्य। भाषा अपभ्रंश जो हिन्दी भाषा की जननी है। अपभ्रंश का रूप पहचानने के लिए हेमचन्द्र के कुछ पद उदाहरणार्थ लिखे हैं।

२ चन्द बरदाई (सं० १२०५—१२४८) हिन्दी के आदि कवि। पृथ्वीराज रासों के रचयिता। यह रासों वीर रस से परिपूर्ण हिन्दी का महाकाव्य है। भाषा का रूप अपभ्रंश है।

३ विद्यापति (सं० १३६६ के लगभग) मिथिला के राजवंश के सभा पंडित। इन्होंने मैथिली भाषा में सरस कविता की है इनकी रचना अति मधुर है। श्रृंगार रस प्रधान है।

४ कबीर (सं० १४५६—१५७६) काशी के निवासी। स्वामी रामानन्द के चेले। भक्ति को निगुण धारा के उपास का प्रेम के पुजारी। बेलाग-लपेट खरतल बात कहने वाले, चाहे किसी को अच्छी लगे या बुरी।

५ सूरदास (सं० १५४०—१६२०) दिल्ली के समीप सीही गांव में इनका जन्म हुआ। गुरु वल्लभाचार्य के शिष्य। वैष्णवधर्म के पुजारी भगवान की पूजा सखाभाव से करते हैं। इनकी भाषा अति मधुर है। बाल-लीला वर्णन करने में अद्वितीय कवि हैं।

६ मीराबाई (सं० १५५५—१६२५) जोधपुर मेड़ता के राठौर रतनसिंह की बेटी। उदयपुर के कुंवर भोजराज की धर्मपत्नी। भाषा राजपूतानी मिश्रित हिन्दी है। इनके पद अति सरल हैं। इनकी कृष्ण भक्ति प्रसिद्ध है।

७ तुलसीदास (सं० १५८३—१६८०) इनकी भक्ति में सेवा-भाव प्रबल है इनके गुरु का नाम नरहरिदास बतलाया जाता है। रामचरित मानस लिखकर इन्होंने हिन्दू जाति का परम कल्याण किया हैं। इनकी

रचनाओं में सरसता तथा भावों की गम्भीरता है। इनके भगवान् पतित पावन राम हैं। आदर्श चरित्रों का चित्रण करके इन्होंने लोक का बहुत उपकार किया।

८ रहीम (सं० १६१०–१६८२) यह अकबर के सेनापति और मन्त्री थे। इनका पूरा नाम है अबदुल रहीम खान खाना। इनके दोहे प्रसिद्ध हैं। इनमें नीति की शिक्षा है। काव्य-कला का भी गहरा पुट है। इनकी कविता के द्वारा इनका प्रेम जो हिन्दू संस्कृति की ओर है, विशेष रूप से झलकता है।

९ बिहारी (सं० १६६०–१७२०) इनके दोहे सतसई के नाम से लोक विख्यात हैं। जन्म-स्थान ग्वालियर के समीप है। जयपुर के महाराज जयसिंह की सभा के यह राजपंडित थे यह शृंगारी कवि हैं। इनके दोहों में रस तथा अलंकार कूट-कूट कर भरा है। भाव के साथ पांडित्य का चमत्कार है।

१० भूषण (सं० १६७०–१७७२) जन्म-स्थान, कानपुर के समीप एक गांव है वीर रस की कविता के द्वारा इन्होंने शिवाजी को प्रोत्साहित किया कि वह धर्म युद्ध करके भारत को स्वतन्त्र कराएं राष्ट्रीयता भाव को जगाकर इन्होंने भारतवर्ष का बड़ा उपकार किया है।

११ रसखान (सं० १६१५ के लगभग) दिल्ली के पठान थे। वैष्णव धर्म को स्वीकार करके कृष्ण भक्त हो गये। गोस्वामी विट्ठलदास जी के शिष्य थे इनकी भाषा में अनुभूति तथा रस का प्राचुर्य है।

१२ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०७–१९४२) जन्म-स्थान—काशी। यह आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता हैं गद्य पद्य-वाटिकादि अनेक ग्रन्थ इन्होंने रचे हैं। इनकी कविता भाषा-माधुर्य और भाव सौन्दर्य से परिपूर्ण है। इनकी कविता में प्रकृति का यथार्थ चित्रण, तथा वस्तुवाद की प्रतिष्ठा भली प्रकार हुई।

१३ जगन्नाथ दास रत्नाकर (सं० १९२३—१९८९) जन्म-स्थान काशी। यह ब्रजभाषा के कवि हैं। इनकी कविता में वस्तुवाद भली

प्रकार पाया जाता है यह वस्तुवाद आगे चलकर आधुनिक युग की विशेषता बन जाता है।

१४ मैथिलीशरण गुप्त (सं० १६४३)—जन्म-स्थान–झाँसी—आधुनिक लोकप्रिय कवि। कविता उच्च भावनाओं सेप रिपूर्ण है। देश-भक्ति कूट-कूट कर भरी है। इनके यह प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—१ भारत भारती २ यशोधरा, ३ जयद्रथ वध साकेत आदि।

१५ जयशंकर प्रसाद (सं० १६४६) जन्म-स्थान काशी। हिन्दी के प्रतिभाशील और प्रमुख कवि हैं। प्रसाद जी की प्रसिद्ध रचनाएं—(नाटक)—अजात शत्रु, स्कंद गुप्त। (कहानी) छाया, दीप (उपन्यास) कंकाल, तितली। कविता झरना, कामायनी इनकी कविता सर्वतो मुखी है।

१६ रामनरेश त्रिपाठी (सं० १६४६) इनका जन्म जौनपुर के समीप गाँव में हुआ। रचनायें—मिलन, स्वप्न, पथिक। इनकी कविता राष्ट्रीयता के भावों से परिपूर्ण है।

१७ सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला (जन्म सं० १६५५) हिन्दी काव्य में नवयुग के प्रवर्तक हैं इन्होंने छन्दों के बन्धनों से हिन्दी कविता को मुक्त किया। इनकी नई कविता नया संदेश लाई इनके भाव गूढ़ हैं, प्रसिद्ध ग्रन्थ—परिमल, गीतिका आदि।

१८ सुमित्रानन्दन पन्त (जन्म सं० १६५७) निवास-स्थान—अलमोड़ा इनकी रचनाओं में माधुर्य, सुकुमारता तथा वेग पाया जाता है। ठीक शब्दों का प्रयोग करने में यह बहुत कुशल हैं। इनकी कल्पना शक्ति उच्च कोटि की है प्रकृति के स्वरूप को यह कल्पना की अन्तर्दृष्टि से देखते हैं इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ पल्लव, गुंजन, युगवाणी, ज्योत्स्ना आदि।

१६ श्याम नारायण पांडेय, आजकल के प्रसिद्ध कवि हैं जिन्होंने 'हल्दी घाटी' नाम का काव्य लिखकर हिन्दी साहित्य का परम उपकार किया है।

२० सोहनलाल द्विवेदी-आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी कविता में गांधीवाद का प्राचुर्य है। प्रसिद्ध ग्रन्थ भैरवी, कुणाल, वासन्ती, युगाधार, प्रभाती आदि।

२१ ठाकुर गोपालशरण सिंह—आधुनिक काल के प्रसिद्ध लेखक निवास स्थान रीवां। इनकी कविता में भावुकता और नवयुग की नव कामनाओं का प्राचुर्य है इनके गीतों में पीड़ित जनों की ओर समवेदना पाई जाती है।

२२ नरेन्द्र शर्मा। आजकल हिन्दी काव्य की अच्छी अच्छी रचनायें कर रहे हैं। राष्ट्रीयता तथा मानवता के भाव जो आधुनिक हिन्दी कविता की जान हैं इनकी कृतियों में भली प्रकार अभिव्यक्त हुए हैं।

२३ महादेवी वर्मा (जन्म स० १९६४) यह आधुनिक युग की 'मीरा' कही जाती हैं। इनकी कविताओं में वियोग तथा करुणा रस पाया जाता है। कोमलता और मधुरता की भी कमी नहीं है। प्रसिद्ध ग्रन्थ—नीहार, नीरजा सान्ध्यगीत, रश्मि आदि।

२४ सुमित्रा कुमारी सिनहा, आधुनिक युग की कवयित्री। इनके गीतों में नवभारत की पुकार है।

२५ सुभद्रा कुमारी चौहान (१९६१) कविता सरल तथा सरस है। स्वदेश प्रेम से भरपूर है। रचनाओं में कोमल भावों की अभिव्यक्ति भली प्रकार पाई जाती है

: १ :

स्वदेश के प्रति

आ, स्वतन्त्र प्यारे, स्वदेश आ,
स्वागत करती हूं तेरा ।
तुझे देख कर आज हो रहा
दूना प्रमुदित मन मेरा ॥

आ, उस बालक के समान
जो है गुरुता का अधिकारी ।
आ, उस युवक-वीर-सा जिसको
विपदाएँ ही हैं प्यारी ॥

आ, उस सेवक के समान तू
विनय-शील अनुगामी-सा,
अथवा आ तू युद्धक्षेत्र में
कीर्ति-ध्वजा का स्वामी-सा ॥

आशा की सूखी लतिकाएँ
तुझको पा, फिर लहराईं,
अत्याचारी की कृतियों को
निर्भयता से दरसाईं ॥

(सुभद्राकुमारी चौहान)

: २ :

वीरों का कैसा हो वसंत ?

वीरों का कैसा हो वसन्त ?
आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग्-दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

फूली सरसों ने दिया रङ्ग,
मधु लेकर आ पहुँचा अनङ्ग,
वधु-वसुधा पुलकित अङ्ग-अङ्ग,
हैं वीर वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रंग और रण का विधान,
मिलने आए हैं आदि-अन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

गलबाहें हों, या हो कृपाण,
चल-चितवन हो, या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित-त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके ! तुझ में क्यों लगी आग,
ए कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

हल्दी-घाटी के शिला-खण्ड,
ए दुर्ग ! सिंह-गढ़ के प्रचण्ड,
राणा नाना का कर घमण्ड,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलंत,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं,
फिर हमें बतावे कौन ? हन्त !
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

(सुभद्राकुमारी चौहान)

: ३ :

विजया दशमी

विजये ! तूने तो देखा है
वह विजयी श्रीराम सखी !
धर्म-भीरु सात्विक निश्छल-मन
वह करुणा का धाम सखी !

वनवासी असहाय और फिर
हुआ विधाता वाम सखी !
हरी गई सहचरी जानकी
वह व्याकुल घनश्याम सखी !

कैसे जीत सका रावण को
रावण था सम्राट् सखी !
सोने की लङ्का थी उसकी
सजे राजसी ठाट सखी !

रक्षक राक्षस-सैन्य सबल था,
प्रहरी सिन्धु विराट सखी !
नर ही नहीं, देव डरते थे
सुन कर उसकी डाँट सखी !

राम-समान हमारा भी तो
रहा नहीं अब राज सखी!
राजदुलारों के तन पर हैं
सजे फ़कीरी साज सखी!

हो असहाय भटकते फिरते
वनवासी-से आज सखी!
सीता-लक्ष्मी हरी किसी ने
गई हमारी लाज सखी!

आशा का सन्देश सुनाती
तू हमको प्रतिवर्ष सखी!
इसी लिए तेरे आने पर
होता अतिशय हर्ष सखी!

रामचन्द्र की विजय-कथा का
भेद बता आदर्श सखी!
पराधीनता से छूटे यह
प्यारा भारतवर्ष सखी!

पर इतने ही से होता है,
किसे भला सन्तोष सखी!
ज़रा हृदय तो देख भरे हैं,
यहाँ रोष के कोष सखी!

वह दिन था, जब दिया किसी ने,
रण में ज़रा प्रचार सखी!
मिटा दिया यम को भी हमने,
हुआ हमारा वार सखी!

और, आज तू देख, देख ये,
सबल बचाते प्राण सखी !
रण से पिछड़ पड़े, कहते हैं—
करो देश का त्राण सखी !

छिड़ा आज यह पाप-पुण्य का
युद्ध अनोखा एक सखी !
मर जावें पर साथ न देंगे,
पापों का, है टेक सखी !

सबलों को कुछ सीख सिखाओ
मरें, करें उद्धार सखी !
दानव दल दें, पाप मसल दें
मेटें अत्याचार सखी !

सबल पुरुष यदि भीरु बनें,
तो हमको दे वरदान सखी !
अबलाएँ उठ पड़ें देश में,
करें युद्ध घमसान सखी !

पन्द्रह कोटि असहयोगिनियाँ,
दहला दें ब्रह्माण्ड सखी !
भारत-लक्ष्मी लौटाने को,
रच दें लङ्का-काण्ड सखी !

खाना - पीना सोना - जीना,
हो पापी का भार सखी !
मर-मर कर पापों का कर दें,
हम जगती से छार सखी !

देखें फिर इस जगती-तल में,
होगी कैसे हार सखी!
भारत-माँ की बेड़ी काटें,
होवे बेड़ा पार सखी!

दो, विजये! वह आत्मिक बल दो,
वह हुङ्कार मचाने दो!
अपनी निर्बल आवाजों से,
दुनिया को दहलाने दो!

"जय स्वतन्त्रिणी भारत माँ!"
यों कहकर मुकुट लगाने दो!
हमें नहीं, इस भू-मण्डल को,
माँ पर बलि-बलि जाने दो!

छेड़ दिया संग्राम, रहेगी,
हलचल आठों याम सखी!
असहयोग-शर तान खड़ा है
भारत का श्रीराम सखी!

पापों के गढ़ टूट पड़ेंगे,
रहना तुम तैयार सखी!
विजये! हम-तुम मिलकर लेंगी,
अपनी माँ का प्यार सखी!

(सुभद्राकुमारी चौहान)

: ४ :

मैं तुम्हारी गति सदा हूँ, जानते हो !

जब अमंगल की घड़ी आवे कठिनतम,
पंथ रुक जावे, खड़े हों विघ्न दुर्दम,
चाँद सूरज सब बुझें, जब मेघ टूटें,
बन अँधेरा अवनि का शृंगार लूटें,
दिग-दिगन्तों में प्रलय बन डोलती हो,
विकल झंझा बाँध अपने खोलती हो,

पथ-गमन-अनुमति सदा हूं, जानते हो !
मैं तुम्हारी गति सदा, तुम जानते हो।

क्षुब्ध पतझर आ रहा हो भुज पसारे,
जब कुसुम-कलियाँ उमँग हँसना बिसारें,
व्याप्त चारों ओर हो कटुता तुम्हारे,
मन बहलने के उपक्रम मुँह निहारें,
डूब जावें आँसुओं से दृग-किनारे,
टूटते - से जब लगें, आशा-कगारे,

धैर्य्य की मैं यति सदा हूं, जानते हो !
मैं तुम्हारी गति सदा, तुम जानते हो !

तुम चढ़ो हिम-गिरि-शिखर पर हँस उछलकर;
तुम बढ़ो तूफ़ान में इठला मचलकर,
तुम उठो आकाश-तारे चूम आओ,
सिन्धु-लहरों पर थिरक तुम झूम जाओ,
मुक्त पंखों पर पवन के तिर चलो तुम,
अचिर क्षण पर अडिग पग धर स्थिर चलो तुम,

साधना-परिणति सदा हूं, जानते हो !
मैं तुम्हारी गति सदा हूं, जानते हो !

(सुमित्राकुमारी सिनहा)

: ५ :

मैंने बन्दनवार सजाए।

मानव मानव का आमन्त्रण,
आज हो रहा नव अभिनन्दन,
विश्वप्राण, गुंजित करने को मन्दिर ने जयशंख बजाए।

उत्पीड़न के द्वार तोड़कर,
बलिदानों का पन्थ मोड़कर,
आज मुक्त मानव ने नवयुग जागृति के शुभ पर्व मनाए।

युग-भावना लिये तुम आओ,
विजय-ध्वजा आकर फहराओ,
शिथिल शक्ति की शिरा-शिरा में गीत स्फूर्ति का उठ लहराए।

दिवालोक-से हँस-खिलकर हम,
नाश करेंगे दुःख गहन-तम,
दिशा-दिशा के गले मिल चलें पग-पग पर मधुमास खिलाए।
मैंने बन्दनवार सजाए।

(सुमित्राकुमारी सिनहा)

: ६ :

फिर वासन्ती ऋतु आई !

लो दूर नगर से गाँवों में
फिर निखर उठी तरुणाई !
खेतों में अरहर फूली,
सुकुमार लताएँ झूलीं,
लेकर सोने की तूली
वह प्रकृति वधू भी भूली,
ऊसर के ठिठुरे ठूँठों में भी
हरियाली लहराई।
फिर वासन्ती ऋतु आई ॥

सोने के मुकुट सजाये
सरसों झुक झूम लजाये,
फागुन ने वेणु बजाये,
रग-रग में गीत गुँजाये,
लालसा बनी पागल आँधी
सारी चेतना भुलाई।
फिर वासन्ती ऋतु आई ॥

सुरभित बयार फिर डोली,
मदमस्त कोकिल बोली,

बौरों ने आँखें खोलीं,
नाची भौंरों की टोली,

ले रंग भरी झोली, होली
तरुणों के मन मुसकाई।
फिर वासन्ती ऋतु आई॥

फिर नयी उमंगें लहकीं,
फिर मीठी चाहें चहकीं,
फिर मन की राहें महकीं,
फिर भोली साधें बहकीं,

फिर सरिता के सूखे तट को
चूमने लहर उठ धाई।
फिर वासन्ती ऋतु आई॥

आँचल भर जौ की बाली
ले कृषक बालिका काली,
आनन्द मगन मतवाली
भरती रस से मन प्याली,

फिर बौर उठी युवकों के
अन्तर की सुन्दर अमराई।
फिर वासन्ती ऋतु आई॥

घूँघट में चाँद छिपाती,
सकुचा मुसका बल खाती,
नूपुर ध्वनि पर इठलाती,
वह ग्राम-वधू मदमाती,

: ७ :

पपीहे के प्रति

जिसको अनुराग-सा दान दिया,
उससे कण मांग लजाता नहीं;
अपनापन भूल समाधि लगा,
यह पी का विहाग भुलाता नहीं;

नभ देख पयोधर श्याम घिरा,
मिट क्यों उसमें मिल जाता नहीं ?
वह कौन-सा पी है पपीहा तेरा,
जिसे बांध हृदय में बसाता नहीं !

उसको अपना करुणा से भरा,
उर-सागर क्यों दिखलाता नहीं ?
संयोग-वियोग की घाटियों में,
नव नेह में बाँध झुलाता नहीं ;

संताप के संचित आँसुओं से,
नहलाके उसे तू घुलाता नहीं;
अपने तमश्यामल पाहुन को,
पुतली की निशा में सुलाता नहीं!

कभी देख पतङ्ग को जो दुख से,
निज, दीपशिखा को रुलाता नहीं;
मिल ले उस मीन से जो जल की,
निठुराई विलाप में गाता नहीं;

कुछ सीख चकोर से जो चुगता
अङ्गार, किसी को सुनाता नहीं;
अब सीख ले मौन का मन्त्र नया,
यह पी-पी घनों को सुहाता नहीं।

(महादेवी वर्मा)

: ८ :

फिर एक बार

मैं कम्पन हूं तू करुण राग
मैं आँसू हूं तू है विषाद;
मैं मदिरा तू उसका खुमार
मैं छाया तू उसका अधार!

मेरे भारत मेरे विशाल
मुझको कह लेने दो उदार!
फिर एक बार बस एक बार!

जिनसे कहती बीती बहार
'मतवालो जीवन है असार'!
जिन झंकारों के मधुर गान
ले गया छीन कोई अजान,

उन तारों पर बन कर विहाग
मँडरा लेने दो हे उदार!
फिर एक बार बस एक बार!

कहता है जिनका व्यथित मौन
'हम-सा निष्फल है आज कौन'?

निर्धन के धन - सी हास
जिनकी जग ने पाई न

उन सूखे ओठों के विषाद—
में मिल जाने दो हे उदार!
फिर एक बार बस एक बार!

जिन आँखों का नीरव अतीत
कहता 'मिटना है मधुर जीत',
जिन पलकों में तारे अमोल
आँसू से करते हैं किलोल,

उस चिन्तित चितवन में विहास
बन जाने दो मुझ को उदार!
फिर एक बार बस एक बार!

फूलों-सी हो पल में मलीन
तारों-सी सूने में विलीन,
ढुलती बूँदों से ले विराग
दीपक से जलने का सुहाग,

अन्तरतम की छाया समेट
मैं तुझमें मिट जाऊँ उदार!
फिर एक बार बस एक बार!

(महादेवी वर्मा)

: ९ :

मुरझाया फूल

था कली के रूप शैशव-
में अहो सूखे सुमन!
हास्य करता था, खिलाता
अंक में तुझको पवन।

खिल गया जब पूर्ण तू-
मञ्जुल सुकोमल पुष्पवर!
लुब्ध मधु के हेतु मंडराते
लगे आने भ्रमर।

स्निग्ध किरणें चन्द्र की–
तुझको हँसाती थीं सदा,
रात तुझ पर वारती थी
मोतियों की सम्पदा।

लोरियाँ गाकर मधुप
निद्रा विवश करते तुझे,
यत्न माली का रहा–
आनन्द से भरता तुझे।

कर रहा अठखेलियाँ–
इतरा सदा उद्यान में,
अन्त का यह दृश्य आया–
था कभी क्या ध्यान में ?

सो रहा अब तू धरा पर–
शुष्क बिखराया हुआ,
गन्ध कोमलता नहीं
मुख मंजु मुरझाया हुआ।

आज तुझको देखकर
चाहक भ्रमर आता नहीं,
लाल अपना राग तुझ पर
प्रात बरसाता नहीं।

जिस पवन ने अङ्क में–
ले प्यार था तुझको किया,
तीव्र झोंके से सुला–
उसने तुझे भू पर दिया।

कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिए दानी सुमन ?

मत व्यथित हो फूल ! किसको
सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थमय सबको बनाया—
है यहां करतार ने।

विश्व में हे फूल ! तू—
सबके हृदय भाता रहा !
दान कर सर्वस्व फिर भी—
हाय हर्षाता रहा।

जब न तेरी ही दशा पर
दुख हुआ संसार को,
कौन रोयेगा सुमन !
हम-से मनुज निःसार को ?

(महादेवी वर्मा)

: १० :

गाँधीजी !

जनहित के लिए, देव, तुमने–
क्या नहीं सहा ? क्या नहीं किया ?

श्री, सम्पत्ति, सुख, परिवार मान की कौन कहे ?
अरमानों के, निज प्राणों के भी मुक्त दान की कौन कहे ?
प्रियतना संगिनी नारी का तुमने जनहित बलिदान दिया !

जिन आदर्शों सिद्धान्तों के तुम अटल अचल;
(इन अटल अचल को हिला न पाई अहंकार की मति चंचल !)
उन आदर्शों-सिद्धान्तों का तुमने जनहित अपमान किया !

तुम अमृत सत्य के अभिलाषी, निर्भीक संत ;
पर मर्त्यलोक-कल्याण-हेतु चिर आशंकित ममता अनन्त !
जनहित के लिए असत्यों से की संधि, शम्भु, विष-पान किया !

सौ बार हार कर, सेनानी, तुम अपराजित !
जय और पराजय के सुख-दुख से नहीं युद्ध की गति शासित !
या इसीलिए मृदु पल्लव का लोहा वज्रों ने मान लिया !

(नरेन्द्र शर्मा)

जयहिन्द

इस महादेश की सीमाएँ गा रहीं एक स्वर, एक गीत–
यह देश रहेगा नहीं दास, यह देश नहीं अब मृत्यु-भीत!

'भिक्षान्न नहीं देना जीवन, है मरने में भी संजीवन!'
गोली खा-खाकर कहते थे कलकत्ता के जीवन्मृत जन!
जयहिन्द कहो, आओ सीखो जी उठने की यह नई रीत!
इस महादेश की सीमाएँ गा रहीं एक स्वर, एक गीत!

जागे हैं कन्या-काश्मीर, हैं जाग उठे आसाम, सिन्ध;
जयहिन्द मंत्र की बलिहारी! है धन्य फ़ौज आज़ाद हिन्द!
जयहिन्द कहो, आगे आओ, मिल रही प्राण के मोल जीत!
इस महादेश की सीमाएँ गा रहीं एक स्वर, एक गीत!

क़ैदी बनकर भी जीत लिया दुश्मन से लाल क़िला अपना।
साकार हुआ, वीरो, तुममें खोई आज़ादी का सपना!
दुश्मन ने दी हैं हथकड़ियाँ, दी अखिल देश ने अमर प्रीत!
इस महादेश की सीमाएँ गा रहीं एक स्वर, एक गीत!

आज़ाद हिन्द आज़ाद रहे बंधन में और पराजय में,
बन अमर लगन-आसीन रहे यह सेना हृदय-शिवालय में,
जयहिन्द देश का शस्त्र बने, हो शत्रुविनाशी सर्वजीत!
इस महादेश की सीमाएँ गा रहीं एक स्वर, एक गीत!

(नरेन्द्र शर्मा)

: १२ :

फिर महान बन !

फिर महान बन, मनुष्य !
फिर महान बन !

मन मिला अपार प्रेम से भरा तुझे,
इसलिए कि प्यास जीव मात्र की बुझे,
विश्व है तृषित, मनुष्य, अब न बन कृपण !
फिर महान बन !

शत्रु को न कर सके क्षमा-प्रदान जो,
जीत क्यों उसे न हार के समान हो ?
शूल क्यों न वक्ष पर बनें, विजय-सुमन !
फिर महान बन !

दुष्ट हार मानते न दुष्ट नेम से,
पाप से घृणा महान है, न प्रेम से;
दर्प-शक्ति पर कदापि गर्व कर न, मन !
फिर महान बन !

(नरेन्द्र शर्मा)

: १३ :

विश्व-गीत

फिर से कब आता है अतीत ?

जो बीत गया सो बीत गया,
क्यों तुम अब उससे हो सभीत ?
चाहे जो संकट आ जावे,
तुमको तो रहना है विनीत ।
यह विश्व उसी का होता है
जिसकी निजत्व पर हुई जीत ।
करुणामय करुणामय होंगे,
दुख की रजनी होगी व्यतीत ।
है तुम्हें सदा चलते जाना,
है मार्ग तुम्हारा मनोनीत ।
छिपी रजत-रेखा उसमें
जो तममय होता है प्रतीत ।
गाते जाओ सुख के स्वर में
दुखमय जीवन के मधुर गीत ।

(ठाकुर गोपालशरणसिंह)

: १४ :

वर्ष के अन्त में

आ जाय करुणामय यहाँ
ऐसी वसन्त - बहार ।
होकर मुदित फूले - फले
सुख से सकल संसार ।
मिट जाय क्लेश-कुहर तथा
सब भीति-शीत अपार ।
हो जायँ निर्मल स्वच्छ अब
सबके हृदय - कासार ।
हो ज्ञान-दिनमणि-की-प्रभा का
निर्विकार प्रसार ।

सद्भाव-सरसिज खिल उठें
सुख-शान्ति आधार ।
हो प्रेम-मलयज का मही में
सब कहीं सञ्चार ।
शुचि सत्य-सरिता की बहे
अविकल विमल कलधार ।
हो नव-विवेक-विचार-पल्लव-
की अतुल भरमार ।
हो भ्रातृ-भाव-प्रसून अब
सबके गले का हार ।
हो आत्म-त्याग-पराग का
जीवन - सुमन आगार ।
हो मन-मधुप निर्भय करे
मृदु तर्क की गुँजार ।
आत्मा-मयङ्क-विकास का
उन्मुक्त हो अब द्वार ।
हो शान्ति-रूपी कौमुदी का
सब कहीं प्रस्तार ।
सौजन्य-शोभन-सुमन ही
सबका बने शृङ्गार ।
संसार को सुख-सरस-सौरभ
का मिले उपहार ।

(ठाकुर गोपालशरणसिंह)

: १५ :

कामना

हमें चाहिए सुख न तनिक भी
दुख-ही-दुख ये प्राण सहें।
व्यथित हृदय में बस करुणा के
भाव-स्रोत ही सदा बहें।

घृणा नहीं हो हमें किसी से,
सभी जनों से प्यार रहे।
कोलाहल - विहीन नित अपना,
सूना ही संसार रहे।

यदि जग हमसे रहे रुष्ट भी
तो भी हमें न रोष रहे।
हो न महत्त्व-मनोरथ मन में,
लघुता में संतोष रहे।

परम तृषाकुल इन नयनों में
पावन प्रेम-प्रवाह रहे।
केवल यही चाह है, उर में
कभी न कोई चाह रहे।

कोई भी विपत्ति आ जावे,
हृदय कभी भयभीत न हो।
कोई भी जीवन का संकट,
संकट हमें प्रतीत न हो।

चाहे इस संसार-समर में
कभी हमारी जीत न हो।
किन्तु हृदय से दूर हमारे,
यह जीवन-संगीत न हो।

(ठाकुर गोपालशरणसिंह)

: १६ :

उमंग

उठ-उठ री मानस की उमंग !
भर जीवन में नव रूप रंग !

उठ सागर की गहराई-सी,
पर्वत की अमित ऊँचाई-सी,
नभ की विशाल परछाँहीं-सी,
लय हों अग जग के रंग ढंग !
उठ-उठ री मानस की तरंग !

छा जीवन में बन एक आग,
अनुराग रहे या हो विराग,
चमके दोनों में आत्म-त्याग,
जल-जल चमकूँ मैं वह्नि रंग !
उठ-उठ री मानस की उमंग !

प्रण में मरने की जगा साख,
रण में मर कर मैं बनूँ राख,
उठ पड़ें राख से लाख-लाख,
शर से भर कर खाली निषंग !
उठ-उठ री मानस की उमंग !

(सोहनलाल द्विवेदी)

: १७ :

अभियान-गीत

घन उमड़-घुमड़ हों गरज रहे,
छाई काली अँधियाली हो,
अविरल अजस्र जल गिरता हो,
पथ में न कहीं उजियाली हो;

बिजली भी भय से काँप रही,
छिपती हो घन के अंचल में,
उपलों की भीषण वर्षा हो,
सहसा थकता हो प्रति पल में,

दायें खाई, बायें खाई,
हो राह बीच में सँकरीली,
उस पार उसी से जाना हो,
बिछलन हो, हो मिट्टी गीली।

फिर भी अधीर हो पांथ नहीं,
दृढ़ दृष्टि समुन्नत भाल किये,
अविचल गति से तुम चले चलो,
प्राणों की अन्तिम ज्वाल लिये!

(सोहनलाल द्विवेदी)

हो दूर

गृह-गृह विद्या का हो प्रसार
हो दूर देश से अंधकार

कोरी पाटी पर प्रथमाक्षर
चमके बन करके स्वर्णाक्षर,
पीछे से सुखद सहारा दे
अपने भाई का पावन कर,
पथ-पथ हो जाग्रति का प्रसार,
हो दूर देश से अंधकार !

नवयुवक राष्ट्र के सिर पर लें
यह जन-सेवा का मधुर भार,
साक्षर हों सभी निरक्षर ये,
अक्षर दें मधु मंगल प्रसार,
जगमग हों दीपक द्वार-द्वार,
हो दूर देश से अंधकार !

हम बढ़ें विश्व-पथ पर प्रसन्न,
हों ज्ञान-मुखर, हों कर्म-लीन,
पहुँचे जग-जीवन के यात्री
बज रही मुक्ति की जहाँ बीन,
विद्या ही नर का मोक्ष-द्वार
हो दूर देश से अंधकार !

(सोहनलाल द्विवेदी)

: १६ :

चल रे चल

चल रे चल !
अडिग ! अचल !

घन गर्जन, हिम वर्षण !
तिमिर सघन, तड़ित पतन !
शिर उन्नत, मन उन्नत !
प्रण उन्नत, व्रत विव्रत !

रुक न विचल !
झुक न विचल !
गति न बदल !

अनिल ! अनल !
चल रे चल !

चिर शोषण, चिर दोहन !
रक्त न तन, बुझे नयन !
वड़वानल ! जल जल जल !
जगती तल कर उज्ज्वल !

करुणा जल !
ढल ढल ढल !
सत्य सबल !
आत्म प्रबल !
चल रे चल !

कर बंधन, उर बंधन !
तन बंधन, मन बंधन !
अविचल रण, अविरल प्रण !
शत शत व्रण, हों क्षण क्षण !

शिर करतल !
जय करतल !
बलि करतल !
बल करतल !
बल भर बल !
चल रे चल !

: २० :

बापू

कहा हिन्दुओं ने भारत में
फिर से मनमोहन आया,
और मुसलमानों की आँखों ने
पैगम्बर को पाया !

सागर की नीली लहरों पर
लहराता आया संगीत
ईसा ने अवतार लिया
एशिया-खंड में दिव्य पुनीत !

करुणामय भक्तों की आँखों
में सुख की गंगा उमड़ी,
शुद्धोदन की लाल लाड़ले
की सुन्दर छवि दीख पड़ी

समा गया अगणित प्राणों में
धारण करके अगणित रूप
कर्मवीर गाँधी तू कितना
प्यारा है देवता स्वरूप !

(सोहनलाल द्विवेदी)

: २१ :

प्रभाती

जागो जागो निद्रित भारत !
त्यागो समाधि हे योगिराज !
शृंगी फूँको, हो शंखनाद ,
डमरू का डिमडिम नव-निनाद !

हे शंकर के पावन प्रदेश !
खोलो त्रिनेत्र तुम लाल लाल !
कटि में कस लो व्याघ्रांबर को
कर में त्रिशूल लो फिर सँभाल !

विस्मरण हुआ तुमको कैसे
वह पुण्य पुरातन स्वर्णकाल ?
अपमान तुम्हारे कुल का लख
हो गई पार्वती भस्म क्षार !

वह दक्ष प्रजापति का महान
मख ध्वंस हुआ, मच गया शोर,
कँप उठी धरा, कँप उठा व्योम,
सागर में लहरें उठा रोर !

किस रोषी ऋषि का क्रुद्ध शाप
है किये बंद स्मृति-नयन छोर ?
जागो मेरे सोने वाले
अब गई रात, आ गया भोर !

देखा तुमने निज आँखों से
जब थी दु[illegible] सघन रात,
गूँजे वे[illegible] गान यहाँ
फूटा जग में जीवन प्रभात !

देखा तुमने निज आँखों से
कितनों ही का उत्थान-पतन,
इतिहास विश्व के द्रष्टा तुम
सृष्टा कितनों के जन्म-मरण !

देखा तुम[illegible] आँखों से
सतयुग, त्रेता, द्वापर, समस्त,
कैसे कब किसका हुआ उदय,
कैसे कब किसका हुआ अस्त !

हो गया सभी तो नष्ट-भ्रष्ट
अवशिष्ट [illegible] यहाँ हाय ?
विस्मरण [illegible] दिवस-पर्व
संवत्सर भी [illegible]स्मरण-प्राय !

ईंटें [illegible]ीर खड़ी
क्या औ[illegible] है विशेष
देखो [illegible]ध्वंसावशेष
देखो अ[illegible]ग्नावशेष !

किसका इतना उत्थान हुआ,
औ किसका इतना अधःपात !
हे महामहिम क्या और कहूँ
क्या तुम्हें और है नहीं ज्ञात ?

सब ज्ञात तुम्हें तो फिर क्यों यों
तुम जान जान बनते अजान,
जागो मेरे सोने वाले !
जागो भारत ! जागो महान !

बोलो, वे द्रोणाचार्य कहाँ ?
वह सूक्ष्म लक्ष्य-संधान कहाँ ?
हैं कहाँ वीर अर्जुन मेरे
गाँडीव कहाँ है ? बाण कहाँ ?

गीता-गायक हैं कृष्ण कहाँ ?
वह धीर धनुर्धर पार्थ कहाँ ?
है कुरुक्षेत्र वैसा ही पर
वह शौर्य कहाँ ? पुरुषार्थ कहाँ ?

हैं कहाँ महाभारत बोले
योधा, पदातिगण, सेनानी ?
गुरु, कर्ण, युधिष्ठिर, भीष्म, भीम,
वे रण प्रण व्रण के अभिमानी !

हैं कालिदास के काव्यशेष
विक्रमादित्य का राज कहाँ ?
मेरा मयूर सिंहासन वह
मेरे भारत का ताज कहाँ ?

वह चन्द्रगुप्त का राज कहाँ
अपना विशाल साम्राज्य कहाँ ?
वह महा क्रान्ति के संचालक
गुरुदेव कहाँ ? चाणक्य कहाँ ?

वैभव विलास के दिवस कहाँ ?
उल्लास हास के दिवस कहाँ ?
हैं कहाँ हर्षवर्धन मेरे
अंकित केवल इतिहास यहाँ !

है यत्र तत्र बस कीर्ति-स्तम्भ
सम्राट् अशोक महान् कहाँ ?
दुर्जय कलिंग के मद-ध्वंसक
शूरों के युद्ध प्रयाण कहाँ ?

प्राचीरों में बंदिनी बनी
बैठी है सीता सुकुमारी
गल रहे कुसुम से अंग - अंग
दृग से अविरल धारा जारी !

धन्वाधारी हैं राम कहाँ ?
वे बलधारी हनुमान कहाँ ?
है खड़ी स्वर्ण लंका अविचल
अपमानित के अरमान कहाँ ?

जब प्रणय बना जग में विलास
तब तो अपना ही बना काल ।
सब तुम्हें ज्ञात था पृथ्वीराज
तब क्यों न चले पथपर सँभाल?

जग जाओ तुम ही सँयोगिते !
मत सोती, ओ वसुध रानी !
तो क्यों होते हम पराधीन ?
खोते अपने कुल का पानी !

अब कब जागोगे पृथ्वीराज ?
खोलो आलसित पलकें अजान !
अँगड़ाई लेती है ऊषा,
हट गई निशा, आया बिहान !

जागो दरिद्रता के विप्लव !
जागो भूखों की प्रलय-तान !
जागो आहत उर की ज्वाला !
युग-युग के बंदी मूक गान !

(सोहनलाल द्विवेदी)

: २२ :

प्रताप

यज्ञ-अनल-सा धधक रहा था
वह स्वतन्त्र अधिकारी ।
रोम-रोम से निकल रही थी
चमक-चमक चिनगारी ॥

अपना सब कुछ लुटा दिया
जननी-पद-नेह लगा कर ।
कलित-कीर्ति फैला दी है
[illegible] मेवाड़ जगाकर ॥

भरा हुआ था उर प्रताप का
गौरव की चाहों से।
फूँक दिया अपना शरीर
हम दुखियों की आहों से॥

जग - वैभव - उत्सर्ग किया
भारत का वीर कहाकर।
माता-मुख-लाली प्रताप ने
रख ली लहू बहाकर॥

भीषण-प्रण तक किया, रक्त से
समर-सिंधु भर डाला।
ले नंगी तलवार बढ़ा
सब कुछ स्वाहा कर डाला॥

अरावली - उन्नत - शिखरों पर
सजला रहा रणों को।
अपने शोणित से धोया था
माँ के मृदु-चरणों को॥

बढ़ता रहा प्रताप लगाकर
बाजी निज प्राणों की।
जहाँ हो रही थी वर्षा
चोखे चुभते बाणों की॥

रण-चण्डी को पिला दिया
शोणित-मदिरा का प्याला।
बड़वानल-सी धधका दी थी
क्रोधानल की ज्वाला॥

उनके एक इशारे पर
वीरों ने लीं, तलवारें ।
पर्वत-पथ रँग दिये रक्त से,
लीं गात-गात खरधारें ॥

गूँज रही जावर-माला में
उसकी अमर कहानी ।
अब तक हल्दीघाटी के पथ
पर हैं समर-निशानी ॥

रक्षा की तलवार उठाकर
समर किया लाखों से ।
पोंछ दिये आँसू प्रताप ने
माता की आँखों से ॥

निकल रही जिसकी समाधि से
स्वतन्त्रता की आगी ।
यहीं कहीं पर छिपा हुआ है
वह स्वतन्त्र वैरागी

(श्यामनारायण पांडेय)

: २३ :
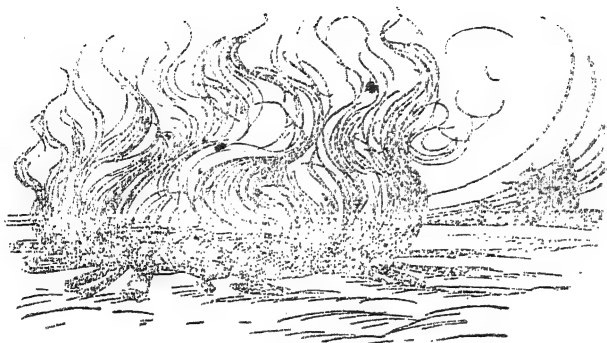
चित्तौड़

नहीं देखते सतियों के जलने—
का है अंगार कहाँ ?
राजपूत ! तेरे हाथों में
है नंगी तलवार कहाँ ?
कहाँ पद्मिनी का पराग है,
सिर से उसे लगा लें हम !
रत्नसिंह का क्रोध कहाँ है
गात-रक्त गरमा लें हम ॥

जौहर-व्रत करने वाली
करुणा की करुण पुकार कहाँ ?
और न कुछ कर सकते तो
देखें उसकी तलवार कहाँ ॥

मन्द पड़े जिससे वैरी
वह भीषण हाहाकार कहाँ ?
स्वतन्त्रता के संन्यासी ?
राणा का रण-उद्गार कहाँ !!

किस न वीर की दमक उठी थी
दीप्ति दीपिका - माला - सी ।
कौन वीर बाला न चिता पर
चमक उठी थी ज्वाला - सी ।।

जमा सके अधिकार तनिक
खिलजी करके हथियार नहीं ।
ठहर सकी क्षण-भर इस पर
अकबर की भी तलवार नहीं ।।

गोरा-बादल के खँडहर से
निकल रही है आग अभी ।
स्वतन्त्रता के मन्दिर का
जलता अविराम चिराग अभी ।।

दुश्मन की तलवार फिरी
वीरों की बोटी - बोटी पर ।
अभी वीरता खेल रही है
इसकी उन्नत चोटी पर ।।

यही देश राणा प्रताप की
स्वतन्त्रता का अवलम्बन ।
इसी भूमि-कण का दर्शन है
शत-शत मन्दिर के दर्शन ।।

इसी भूमि की पूजा की
वीरों ने रण की चाहों से।
माँ-बहनों ने जौहर से,
दीनों ने अपनी आहों से॥

इंच-इंच भर धरती तर थी
बहादुरों के खूनों से।
किया गया था नित्य इसी का,
अर्चन प्राण-प्रसूनों से॥

जन-रक्षा के लिए यहीं
वीरों की सेना सजती थी।
वैरी को दहलाने वाली
रण-भेरी नित बजती थी॥

ए मेरे चित्तौड़ देश, बिखरे
प्रश्नों को कर दे हल।
साहस भर दे हृदय-हृदय में,
बाहु-बाहु में भर दे बल॥

वीर-रक्त से तू पवित्र है,
तू मेरे बल का साधन।
बोल-बोल तू एक बार फिर
कब देगा राणा-सा धन॥

(श्यामनारायण पांडेय)

: २४ :

वीर-सिपाही

भारत-जननी का मान किया,
वलिवेदी पर वलिदान किया।
अपना पूरा अरमान किया,
अपने को भी कुर्बान किया॥

रक्खी गर्दन तलवारों पर,
थे कूद पड़े अंगारों पर,
उर ताने शर-बौछारों पर,
धाये बरछी की धारों पर॥

झन-झन करते हथियारों में,
अरि-नागों की फुफकारों में।
जंगीगज-प्रबल कतारों में,
घुस गये स्वर्ग के द्वारों में॥

वह जहर भरा था तीरों में,
मेवाड़-देश के धीरों में,
जिससे दुश्मन के वीरों में,
बँध सके न वे जंजीरों में॥

उनमें कुछ ऐसी आन रही,
कुछ पुश्तैनी यह बान रही।
मेवाड़-देश के लिए सदा
वीरों की सस्ती जान रही॥

कहते थे भाला आने दो
चिल्ले पर तीर चढ़ाने दो।
आगे को पैर बढ़ाने दो
रण में घोड़ा दौड़ाने दो॥

देखो फिर कुन्तल वालों की,
कुछ करामात करवालों की।
इस वीर-प्रसविनी [illegible] के
छोटे-से-छोटे बालों की॥

बसने तक को है [illegible] [illegible],
जंगल में रहते [illegible] [illegible]।
पर भीषण यहाँ [illegible] है,
अरि कर सकते [illegible] [illegible]।

हम माता के गुण गायेंगे,
बलि जन्म-भूमि पर जायेंगे ।
अपना झण्डा फहरायेंगे,
हम हाहाकार मचायेंगे ।।

वैरी - सम्मुख अड़ जायेंगे,
रण में न तनिक घबड़ायेंगे ।
लड़ जायेंगे, लड़ जायेंगे,
दुश्मन को ले उड़ जायेंगे ।।

यह कहते थे, चढ़ जाते थे,
रण करने को घबड़ाते थे ।
मारू बाजे कढ़ जाते थे,
हथियार लिये बढ़ जाते थे ।।

मुगलों का नाम मिटायेंगे,
अपना साहस दिखलायेंगे ।
लड़ते - लड़ते मर जायेंगे,
मेवाड़ न जब तक पायेंगे ।।

(श्यामनारायण पांडेय)

: २५ :
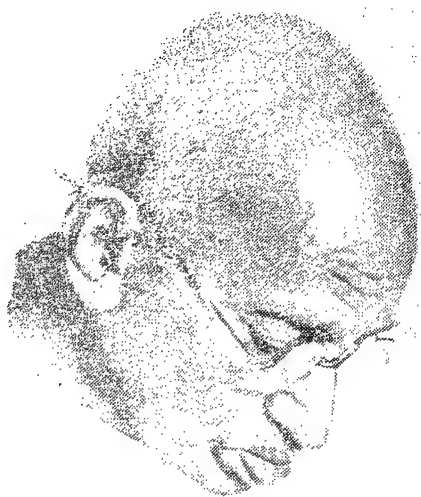
बापू !

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान ज्ञान,
बहु भौतिक साधन, यंत्र यान, वैभव महान,
सेवक हैं विद्युत वाष्प शक्ति : धन बल नितांत,
फिर क्यों जग में उत्पीड़न ? जीवन यों अशांत ?

मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय !
चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान : वह नहीं पचित :
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित !

है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास ?
चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव उर में फिर मानवता का हो प्रवेश !

बापू ! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन,
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बन्धन ?

(सुमित्रानन्दन पंत)

: २६ :

भारतमाता

भारत माता
ग्रामवासिनी ।

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी ।

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी ।

तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी ।

स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित,
धरणी-सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रन्दन कम्पित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी ।

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !

सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी ।

(सुमित्रानन्दन पंत)

: २७ :

चरखा गीत

भ्रम, भ्रम, भ्रम,—

घूम घूम, भ्रम भ्रम रे चरखा
कहता : 'मैं जन का परम सखा,
जीवन का सीधा-सा नुसखा—
श्रम, श्रम, श्रम !'

कहता : 'हे अगणित दरिद्रगण !
जिनके पास न अन्न, धन, वसन,
मैं जीवन उन्नति का साधन—
क्रम, क्रम, क्रम !'
भ्रम, भ्रम, भ्रम,—

'धुनई रू, निर्धनता दो धुन,
कात सूत, जीवन पट लो बुन;
अकर्मण्य, सिर मत धुन, मत धुन,
थम, थम, थम !'

'नग्न गात यदि भारत मा का,
तो खादी समृद्धि की राका,
हरो देश की दरिद्रता का
तम, तम, तम !'
भ्रम, भ्रम, भ्रम;—

कहता चरखा प्रजा तंत्र से, :
'मैं कामद हूं सभी मंत्र से';
कहता हँस आधुनिक यंत्र से
'नम, नम, नम !'

'सेवक, पालक शोषित जन का,
रक्षक मैं स्वदेश के धन का,
कातो हे, काटो तन मन का
भ्रम, भ्रम, भ्रम !'

(सुमित्रानन्दन पंत)

: २८ :

महात्माजी के प्रति

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अंतिम दीप शिखोदय !—
जिनकी ज्योति छटा के क्षण से प्लावित आज दिगंचल,—
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्मा की जय,
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्वल !

मानव आत्मा के प्रतीक ! आदर्शों से तुम ऊपर,
निज उद्देश्यों से महान, निज यश से विशद, चिरंतन;
सिद्ध नहीं तुम लोक सिद्धि के साधन बने महत्तर,
विजित आज तुम नर वरेण्य, गणजन विजयी साधारण !

युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नवसंस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर,
साम्राज्यों ने ठुकरा दिया युगों का वैभव पाहन—
पदाघात से मोह मुक्त हो गया आज जन अंतर !

दलित देश के दुर्दम नेता हे ध्रुव, वीर, धुरंधर,
आत्म शक्ति से दिया जाति-शव को तुमने जीवन बल;
विश्व सभ्यता का होना था नखशिख नव रूपांतर,
राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !

विकसित व्यक्तिवाद के मूल्यों का विनाश था निश्चय
वृद्ध विश्व सामंत काल का था केवल जड़ खँडहर !
हे भारत के हृदय ! तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !

गत संस्कृतियों का, आदर्शों का था नियत पराभव,
वर्ग व्यक्ति की आत्मा पर थे सौध, धाम जिनके स्थित,
तोड़ युगों के स्वर्ण-पाश अब मुक्त हो रहा मानव,
जन मानवता की नव संस्कृति आज हो रही निर्मित !

किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक-जीवन-हित;
अधोमूल अश्वत्थ विश्व, शाखाएँ संस्कृतियाँ वर,
वस्तु विभव पर ही जनगण का भाव विभव अवलंबित !

वस्तु सत्य का करते भी तुम जग में यदि आवाहन,
सब से पहले विमुख तुम्हारे होता निर्धन भारत;
मध्य युगों की नैतिकता में पोषित शोषित-जनगण
बिना भाव स्वप्नों को परखे कब हो सकते जाग्रत् ?

सफल तुम्हारा सत्यान्वेषण, मानव सत्यान्वेषण !
धर्म, नीति के मान अचिर सब, अचिर शास्त्र, दर्शनमत,
शासन, जनगण तंत्र अचिर—युग स्थितियाँ जिनकी प्रेरक
मानव गुण, भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत् !
पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक,
मुक्त-हुए--तुम-मुक्त-हुए-जन, हे जग वंद्य महात्मन् !
देख रहे मानव भविष्य तुम मनश्चक्षु बन अपलक,
धन्य, तुम्हारे श्री चरणों से धरा आज चिर पावन !

: २९ :

राष्ट्र गान

जन भारत हे !
भारत हे !

स्वर्ग स्तंभवत गौरव मस्तक
उन्नत हिमवत् हे,
जन भारत हे,
जाग्रत् भारत हे !

गगन चुंवि विजयी तिरंग ध्वज
इंद्रचापवत् हे,
कोटि कोटि हम श्रमजीवी सुत
संभ्रम युत नत हे,
सब एक मत, एक ध्येय रत,
सर्व श्रेय व्रत हे,
जन भारत हे !
जाग्रत् भारत हे !

समुच्चरित शत-शत कंठों से
जन युग स्वागत हे,
सिन्धु तरंगित, मलय श्वसित,
गंगाजल ऊर्मि निरत हे,
शरद इंदु स्मित अभिनंदन हित,
प्रतिध्वनित पर्वत हे,
स्वागत हे, स्वागत हे
जन भारत हे,
जाग्रत् भारत हे !

स्वर्ग खंड षड् ऋतु परिक्रमित,
आम्र मंजरित, मधुप गुंजरित,
कुसुमित फल द्रुम पिक कल कूजित,
उर्वर, अभिमत हे,
दश दिशि हरित शस्य श्री हर्षित
पुलक राशिवत् हे,
जन भारत हे,
जाग्रत् भारत हे !

जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणि शत,
नीति रीति गत हे,
मानवता में सकल समागत
जन मन परिणत हे,
अहिंसास्त्र जन का मनुजोचित
चिर अप्रतिहत हे,
बल के विमुख, सत्य के सम्मुख
हम श्रद्धानत हे,

जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे !

किरण केलि रत रक्त विजय ध्वज
युग प्रभातगत हे,
कीर्ति स्वतंभवत उन्नत मस्तक
प्रहरी हिमवत् हे,
पद तल छू शत फेनिलोर्मि फन
शेषोदधि नत हे,
वर्ग मुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर शरणागत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे !

(सुमित्रानन्दन पंत)

: ३० :

धनपति

वे नृशंस हैं : वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित!
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित!

शय्या की क्रीड़ा कन्दुक है जिनको नारी,
अहंमन्य वे, मूढ़, अर्थबल के व्यभिचारी!
सुरांगना, संपदा, सुराओं से संसेवित,
नर पशु वे : भू भार : मनुजता जिनसे लज्जित!

दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम कलुषित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत!
जग जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अंतिम हैं उनके क्षण!

(सुमित्रा नन्दन पंत)

: ३१ :

गांधीवाद

साम्यवाद ने दिया विश्व को नव भौतिक दर्शन का ज्ञान
'अर्थशास्त्र-औ'-राजनीति-गत विशद ऐतिहासिक विज्ञान !

साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतंत्र महान,
भव जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण !
अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान !

गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान,
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।
गांधीवाद हमें जीवन पर देता अंतर्गत विश्वास,
मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास !

व्यक्ति पूर्ण बन, जग जीवन में भर सकता है नूतन प्राण,
विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जन का कल्याण !
मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद !

(सुमित्रानन्दन पंत)

: ३२ :

प्रकाश !

आओ, प्रकाश ! इस युग युग के
अवगुण्ठन से मुख दिखलाओ,
आओ हे, मानव के घट के
पट खोल मधुर श्री बरसाओ !

आओ, जीवन के आँगन में
स्वर्णिम प्रभात जग के लाओ,
मानव उर के प्रस्तर युग के
इस अंध तमस को बिखराओ !

विज्ञान ज्ञान की शत किरणें
जनपथ में बरसाते आओ,
मुरझाए मानव मुकुलों को
छू कर नव छवि में विकसाओ !

दिशि पल के भेद विभेदों को
तुम डुबा एकता में, आओ,
नव मूर्तिमान मानवता बन
जन जन के मन में बस जाओ !

(सुमित्रानन्दन पन्त)

: ३३ :

नव-संस्कृति

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो संतत,
जग-जीवन में हों विचार जन के रत!
ज्ञान-वृद्ध, निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बंधन, सक्रिय जीवन!
रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित!
धन-बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन!

जहाँ दैन्य जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित!
युग युग के छाया-भावों से त्रासित
मानव प्रति मानव-मन हो न सशंकित!
मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति
भव-मानवता में जग-जीवन परिणति!
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन-वास, वसन, सुन्दर तन!

—ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव-संस्कृति-किरणों से ज्योतित!

(सुमित्रानन्दन पंत)

: ३४ :

युग उपकरण

वह जीवित संगीत, लीन हो जिसमें जग-जीवन-संघर्ष,
वह आदर्श, मनुज-स्वभाव ही जिसका दोष-शुद्ध निष्कर्ष !
वह अन्तः सौन्दर्य, सहन कर सके बाह्य वैरूप्य विरोध,
सक्रिय अनुकंपा, न घृणा का करे घृणा से जो परिशोध !

नम्र शक्ति वह, जो सहिष्णु हो, निर्बल को बल करे प्रदान,
मूर्त प्रेम, मानव मानव हों जिसके लिए अभेद्य, समान !
वह पवित्रता, जगती के कलुषों से जो न रहे संत्रस्त,
वह सुख, जो सर्वत्र सभी के सुख के लिए रहे संन्यस्त !

ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण,
वह दर्शन-विज्ञान, मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण !
वह संस्कृति, नव मानवता का जिसमें विकसित भव्य स्वरूप,
वह विश्वास, सुदुस्तर भव-सागर में जो चिर ज्योति-स्तूप !

रीति नीति, जो विश्व प्रगति में बनें नहीं जड़ बंधन-पाश,
—ऐसे उपकरणों से हो भव-मानवता का पूर्ण विकास !

(सुमित्रानन्दन पंत)

: ३५ :

तप रे मधुर मधुर मन !

तप रे मधुर मधुर मन !

विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन ।

अपने सजल-स्वर्ण से पावन,
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर-मन ।

तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर-मन !

(सुमित्रानन्दन पंत)

: २६ :

मैं नहीं चाहता चिर-सुख !

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख ;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख ।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण ;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन ।

जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से ।

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न ;
दुख-सुख की निशा-दिवा में,
सोता - जगता जग - जीवन ।

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का ;
चिर हास-अश्रु मय आनन
रे इस मानव-जीवन का !

(सुमित्रानन्दन पंत)

: ३७ :

गीत

भारति, जय, विजयकरे
कनक-सस्य-कमलधरे ।

लङ्का पद्तल-शतदल,
गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण-युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे !

तरु-तृण-वन-लता-वसन,
अञ्चल में खचित सुमन,
गङ्गा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार गले ।

मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओङ्कार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख-शतरव-मुखरे !

(सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला')

: ३८ :

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार !
आँखें अलियों-सी
किस मधु की गलियों में फँसी,
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोईं कमल-कोरकों में ? —
बन्द हो रहा गुञ्जार—
जागो फिर एक बार !

अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गन्धा जगी,
एकटक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय,
आशाओं भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रही चन्द्र को चाव से,
शिशिर-भार-व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए,
छाया कलियों में मधुर
मद-उर यौवन-उभार—

जागो फिर एक बार !

पिउ रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की,
मूँद रही पलकें चारु,
नयन-जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा-भार—

जागो फिर एक बार !

सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय, नयन-नीर
शयन-शिथिल-बाहें
भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो !

छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसारकामी केश-गुच्छ ।
तन मन थक जायं,
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी में जी ;
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में,
कब से मैं रही पुकार—

जागो फिर एक बार !

उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती-रति कवि-कण्ठ में,
क्षण-क्षण में परिवर्तित
होते रहे प्रकृति पट,
गया दिन, आई रात,
गई रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हजार—

जागो फिर एक बार !

समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु-से,
सिन्धु-नद-तीरवासी !—
सैन्धव तुरङ्गों पर

चतुरङ्ग-चमू-सङ्ग ;
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"
किसी ने सुनाया यह
वीर-जनमोहन, अति
दुर्जय संग्राम-राग,
फाग था खेला रण
बारहों महीनों में।
शेरों की माद में,
आया है आज स्यार—

जागो फिर एक बार!

सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल,
तीनों गुण ताप त्रय,
अभय हो गये थे तुम,
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान! तीव्र
भेदकर सप्तवरण-मरण-लोक,
शोकहारी! पहुँचे थे वहाँ,
जहाँ आसन है सहस्रार—

जागो फिर एक बार!

सिंही की गोद से छीनता है शिशु कौन?

मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण ?
रे अजान,
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब,
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है।
किन्तु क्या ?
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं,
गीता है, गीता है,
स्मरण करो बार बार—

जागो फिर एक बार !

पशु नहीं, वीर तुम;
समर-शूर, क्रूर नहीं;
कालचक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुंवर,
समर सरताज !
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।
महा-मन्त्र ऋषियों का
अणुओं परमाणुओं में फूंका हुआ,
"तुम हो महान,

तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पदरज भर भी है नहीं
पूरा यह विश्वभार"—

जागो फिर एक बार !

(सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला')

: ३९ :

सज्जन

चिर-कृतज्ञ सदा उपकार में—
निरत, पुण्य-चरित्र अनेक हैं।
परहितोद्यत स्वार्थ विना कहीं,
विरल मानव हैं इस लोक में ॥ १ ॥

सहज तत्परता शुभ कार्य में,
विनयिता छलहीन वदान्यता।
पर अनिन्दकता गुण-ग्राहिता,
पुरुष-पुंगव के शुभ चिह्न हैं ॥२॥

निज बड़प्पन की सुन के कथा,
सकुचता जिसका चित चारु है।
विकसता सुन के पर-कीर्ति है,
जगत में वह सज्जन धन्य है ॥३॥

सुजन की यह एक विचित्रता,
बहुत रोचक और मनोज्ञ है।
समझ के धन को तृण तुल्य भी,
नमित हैं रहते उस भार से ॥४॥

वचन निश्चित सिंधुर-वत सा,
सुजन हैं सविवेक निकालते।
कमठ के मुख सी खल की गिरा,
निकलती लुकती बहु बार है ॥५॥

सुजन के उर बीच कठोरता,
कुलिश से बढ़ के रहती न जो।
वचन-शायक दुष्ट मनुष्य के,
सह भला सकते किस भाँति वे ॥६॥

पड़ महज्जन घोर विपत्ति में,
निज महत्व कभी तजते नहीं।
पड़ कपूर हुताशन बीच भी,
सुरभि है चहुँ ओर पसारता ॥७॥

भव पराभव में जिसके नहीं,
उपजता कुछ हर्ष विषाद है।
समरधीर गुणी उस पुत्र को,
विरल है जननी जनती कहीं ॥८॥

वदन में मुद भाषण में सदा,
हृदय में जिसके रहती दया।
परहितेच्छुक सो इस लोक में,
पुरुष-पुंगव पूजन योग्य है ॥९॥

उपजता उर में न कदापि है,
यदि हुआ, क्षण में गत हो गया।
यदि रहा. समझो वह व्यर्थ है,
खल-कृपा सम सज्जन कोप है ॥१०॥

विटप छिन्न हुआ बढ़ता पुनः,
न रहती विधु में नित क्षीणता !
सुजन के मन में वह देख के,
विकलता बढ़ती न विपत्ति में ॥११॥

जल न पान स्वयं करती नदी,
फल न पादप हैं चखते स्वयं।
जलद सस्य स्वयं चखते नहीं,
सुजन-वैभव अन्य हितार्थ है ॥१२॥

सुजन सूप समान सदैव ही,
सुगुण हैं गहते तज दोष को।
खल सदा चलनी सम दोष ही,
ग्रहण हैं करते गुण छोड़ के ॥१३॥

यश मिले अथवा अपकीर्ति हो,
धन रहे न रहे कुछ क्यों न हो।
हृदय में रहते तक प्राण के,
बुध नहीं तजते पथ धर्म का ॥१४॥

रामनरेश त्रिपाठी)

: ४० :

भारत-महिमा

हिमालय के आँगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया, और पहनाया हीरक-हार॥
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल कर में सप्रीति।
सप्त-स्वर सप्त-सिन्धु में उठे, छिड़ा तव मधुर साम संगीत॥
बचाकर बीज रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ, वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत॥

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता-विकास।
पुरंदर ने पवि से है लिखा, अस्थि-युग का मेरे इतिहास॥
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह, एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न, मग्न रत्नाकर में वह राह॥

धर्म का ले ले कर जो नाम, हुआ करती बलि कर दी बन्द।
हमीं ने दिया शांति-संदेश, सुखी होते देकर आनन्द॥
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट, दया दिखलाते घर-घर घूम॥

यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि॥
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं, कहीं से हम आए थे नहीं॥

जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर॥
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न॥

हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव॥
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-सन्तान॥

जिएँ तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

(जयशंकर 'प्रसाद')

: ४१ :

दुर्भिक्ष

(१)

दुर्भिक्ष मानो देह धरके, घूमता सब ओर है,
हा ! अन्न, हा ! हा ! अन्न, का रव गूँजता घनघोर है।
सब विश्व में, सौ वर्ष में, रण में, मरे जितने हरे !
जन चौगुने उनके यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे !!!

(२)

सड़ते प्रभञ्जन से यथा तप-मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं !
है एक चिथड़ा ही बगल में और खप्पर हाथ में,
नंगे तथा रोते हुए बालक विकल हैं साथ में।

(३)

आवास या विश्राम उनका एक तरुतल मात्र है,
बहु कष्ट सहने से सदा काला तथा कृश गात्र है !
हेमन्त उनको है कंपाता, तप तपाता है तथा—
है झेलनी पड़ती उन्हें सिर पर विषम वर्षा-व्यथा !

(४)

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है ?
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है !
निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे,
किन शुष्क आँतों में न जानें प्राण उनके हैं फँसे !

(५)

अविराम आँखों से बरसता आँसुओं का मेह है,
है लटपटाती चाल उनकी, छटपटाती देह
गिरकर कभी उठते यहाँ, उठकर कभी गिरते वहाँ,
घायल हुए से घूमते हैं वे अनाथ जहाँ - तहाँ ॥

(६)

हैं एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार-द्वार पुकारते,
कहते हुए कातर वचन सब ओर हाथ पसारते।
"दाता ! तुम्हारी जय करें,हमको दया कर दीजियो,
माता ! मरे हा ! हा ! हमारी शीघ्र ही सुध लीजियो ॥"

(७)

कृमि,कीट खग,मृग आदि [illegible] भूखे नहीं सोते कभी,
पर वे भि[illegible] [illegible] में भी भूख से रोते सभी !
वे सुप्त हैं या मृत[illegible] [illegible], समझ पड़ता नहीं,
मूर्छा कि मृ[illegible] [illegible] है, यह नींद की जड़ता नहीं !

(८)

है काँखता को[illegible] [illegible] कोई कहीं रोता पड़ा;
कोई [illegible] [illegible] करता ताप है कैसा कड़ा।
हैं मृत्यु-रमणी [illegible] [illegible] अभागे मर रहे,
जब से बु[illegible] [illegible] ने उस प्रिया के गुण कहे ॥

नारी जनों की दुर्दशा हमसे कही जाती नहीं,
लज्जा बचाने को अहो ! जो वस्त्र भी पाती नहीं।
जननी पड़ी है और शिशु उसके हृदय पर मुख धरे,
देखा गया है, किन्तु वे माँ-पुत्र दोनों हैं मरे ॥

(१०)

आनन्द-नद में जिस समय थे देश के वासी सभी,
सुर भी तरसते थे जहाँ पर जन्म लेने को कभी।
हा ! आज उसकी यह दशा, सन्ताप छाया सब कहीं,
सुर क्या असुर भी अब यहाँ का जन्म चाहेंगे नहीं ॥

(मैथिलीशरण गुप्त)

: ४२ :

पार्थ-प्रतिज्ञा

श्रीवत्सलांछन विष्णु तब कह कर वचन प्रज्ञा-पगे ।
धीरज बँधा कर पाण्डवों को, शीघ्र समझाने लगे ॥
हरने लगे सब शोक उनका ज्ञान के आलोक में ।
कुछ शान्ति देती है बड़ों की सान्त्वना ही शोक में ॥१॥

"हे हे परन्तप ! ताप सह कर, चित्त में धीरज धरो !
हे धीर भारत ! हो न आरत शोक को कुछ कम करो ॥
पड़ता समय है वीर पर ही, भीरु-कायर पर नहीं !
दृढ़ भाव अपना विपद में भी भूलते बुधवर नहीं ॥२॥

निज जन-विरह के शोक का दुख-दाह कौन न जानता ?
पर मृत्यु का होना न जग में कौन निश्चित मानता ?
सहनी नहीं पड़ती किसे प्रिय विरह की दुस्सह व्यथा ?
क्या फिर हमें कहनी पड़ेगी आज गीता की कथा ॥३॥

निश्चय विरह अभिमन्यु का है दुःखदायी सर्वथा ।
पर सहन करनी चाहिए फिर भी किसी विध यह व्यथा ॥
रण में मरण क्षत्रिय जनों को स्वर्ग देता है सदा ।
है कौन ऐसा विश्व में जीता रहे जो सर्वदा ॥४॥

हे वीर ! देखो तो, तुम्हें यों देख कर रोते हुए ।
हैं हँस रहे सब शत्रुजन मन में मुदित होते हुए ॥
क्या इस महा अपमान का कुछ भी न तुमको ध्यान है ?
क्या ज्ञानियों को भी विपद में त्याग देता ज्ञान है ॥५॥

तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है ?
कैसा समय, कैसी दिशा, कैसा तुम्हारा धर्म है ?
हे अनघ ! क्या विज्ञता भी आज तुमने दूर की ?
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की ॥६॥

जिन पामरों ने सर्वदा ही दुःख तुमको है दिया ।
षड्यन्त्र रच रच कर अनेकों विभव सारा हर लिया ॥
उन पापियों के देखते, है योग्य क्या रोना तुम्हें ?
निज शत्रु-सम्मुख तो उचित है मुदित ही होना तुम्हें ॥७॥

निज सहचरों का शोक तो आजन्म रहता है बना ।
पर चाहिए सबको सदा कर्त्तव्य अपना पालना ॥
हे विज्ञ ! सो सब सोचकर यों शोक में न रहो पड़े ।
लो शीघ्र बदला वैरियों से, धैर्य धर कर हो खड़े ॥८॥

मारा जिन्होंने युद्ध में अभिमन्यु को अन्याय से ।
सर्वस्व मानो है हमारा हर लिया दुरुपाय से ॥
हे वीरवर ! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं ?
इस वैर का बदला कहो, क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं" ॥९॥

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे ।
सब शोक अपना भूल कर, करतल युगल मलने लगे ॥
"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े ।"
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठ कर खड़े ॥१०॥

उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा ।
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा ॥
मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ ।
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ॥११॥

युग नेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार-से।
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार-से॥
निश्चय अरुणिमा-मिस अनल की जल उठी वह ज्वाल ही।
तब तो दृगों का जल गया शोकाश्रु-जल तत्काल ही॥१२॥

तब निकल कर नासा-पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों।
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों—
जिस भाँति हरने पर किसी के प्राण से भी प्रिय मणी।
करते स्फुरित फिर-फिर फणा फुङ्कार भरता है फणी॥१३॥

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए।
तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए—
दो पद्म शुण्डों में लिये दो शुण्ड वाला गज कहीं।
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा वहीं॥१४॥

दुर्द्धर्ष, जलते से हुए, उत्ताप के उत्कर्ष से।
कहने लगे तब वे अरिन्दम वचन व्यक्त अमर्ष से॥
प्रत्येक पल में चञ्चला की दीप्ति दमका कर घनी।
गम्भीर सागर सम यथा करते जलद धीर ध्वनी॥१५॥

'साक्षी रहे संसार सब, करता प्रतिज्ञा पार्थ मैं।
पूरा करूँगा कार्य सब कथनानुसार यथार्थ मैं॥
जो एक बालक को कपट से मार कर हँसते अभी।
वे शत्रु सत्वर शोक सागर-मग्न दीखेंगे सभी॥१६॥

अभिमन्यु-धन के निधन में कारण हुआ जो मूल है।
इससे हमारे हत हृदय का हो रहा जो शूल है॥
उस खल जयद्रथ को जगत में मृत्यु ही अब सार है।
उन्मुक्त बस उसके लिए रौरव नरक का द्वार है॥१७॥

तज धार्त्तराष्ट्रों को सवेरे दीन होकर जो कहीं।
श्रीकृष्ण और अजातरिपु के शरण वह होगा नहीं॥
तो काल भी चाहे स्वयं हो जाय उसके पक्ष में।
तो भी उसे मैं वध करूंगा प्राप्त कर शर-लक्ष में॥१८॥

सुर, असुर, गन्धर्व, किन्नर आदि कोई भी कहीं।
कल शाम तक मुझसे जयद्रथ को बचा सकते नहीं॥
चाहे चराचर विश्व भी उसके कुशल हित हो खड़ा!
भू-लुठित कलरव तुल्य उसका शीश लोटेगा पड़ा॥१६॥

उपयुक्त उस खल को न यद्यपि मृत्यु का भी दण्ड है।
पर मृत्यु से बढ़ कर न जग में दण्ड और प्रचण्ड है॥
अतएव कल उस नीच को रण-मध्य जो मारूँ न मैं।
तो सत्य कहता हूँ कभी शस्त्रास्त्र फिर धारूँ मैं॥२०॥

हे देव अच्युत! आपके सन्मुख प्रतिज्ञा है यही।
मैं कल जयद्रथ वध करूँगा, वचन कहता हूँ सही॥
यदि मार कर कल मैं उसे यमलोक पहुँचाऊँ नहीं।
तो पुण्य गति को मैं कभी परलोक में पाऊँ नहीं॥२१॥

पापी जयद्रथ! हो चुका तेरा वयो विस्तार है।
मेरे करों से अब नहीं तेरा कहीं निस्तार है॥
दुर्वृत्त! तेरा त्राण अब कोई न कर सकता कहीं।
वीर-प्रतिज्ञा विश्व में होती असत्य कभी नहीं॥२२॥

विषधर बनेगा रोष मेरा खल! तुझे पाताल में।
दावाग्नि होगा विपिन में, वाडव जलधि जल जाल में॥
जो व्योम में तू जायगा, तो वज्र वह बन जायगा।
चाहे जहाँ जाकर रहे, जीवित न तू रह पायगा॥२३॥

छोटे बड़े जितने जगत में पुण्य नाशक पाप हैं।
लौकिक तथा जो पारलौकिक तीक्ष्णतर सन्ताप हैं॥
हों प्राप्त वे सब सर्वदा को तो विलम्ब बिना मुझे।
कल युद्ध में सन्ध्या समय तक, जो न मैं मारूँ तुझे॥२४॥

अथवा अधिक कहना वृथा है, पार्थ का प्रण है यही।
साक्षी रहें सुन ये वचन रवि, शशि, अनल, अम्बर, मही॥
सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ-वध करूँ।
तो शपथ करता हूँ, स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ" ॥२५॥

करके प्रतिज्ञा यों किरीटी क्रोध के उद्गार से।
करने लगे घोषित दिशाएं धनुष की टङ्कार से॥
उस समय उनकी दीप्ति ने वह दृश्य याद करा दिया।
जब शार्ङ्ग-पाणि उपेन्द्र ने था रोष असुरों से किया॥२६॥

सुन पार्थ का प्रण रौद्र रस में वीर सब बहने लगे।
कह 'साधु साधु' प्रसन्न हो श्रीकृष्ण फिर कहने लगे॥
"यह भारती हे वीर भारत! योग्य ही तुमने कही।
निज वैरियों के विषय में कर्त्तव्य है समुचित यही" ॥२७॥

(मैथिलीशरण गुप्त)

: ४३ :

सत्य-प्रतिष्ठा

कीन्हें कंवल बसन तथा लीन्हें लाठी कर ।
सत्यव्रती हरिचंद हुते टहरत मरघट पर ।।
कहत पुकारि पुकारि "बिना कर कफन चुकाये ।
करहि क्रिया जनि कोइ देत हम सबहिं जताये" ।। १ ।।

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूं कोउ जाति बुझाई ।
एक लगाई जाति एक को राख बहाई ।।
बिबिध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति ।
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहूं दह दह दहकति ।। २ ।।

हरहरात इक दिसि पीपर कौ पेड़ पुरातन ।
लटकत जामैं घंट घने माटी के बासन ।।
बरषा-ऋतु के काज औरहूं लगत भयानक ।
सरिता बहति सवेग कगारे गिरत अचानक ।। ३ ।।

रटत कहूं मंडूक कहूं झिल्ली झनकारैं ।
काक-मंडली कहूं अमंगल मंत्र उचारैं ।।
लखत भूप यह साज मनहिं मन करत गुनावन ।
"पर्‌यो हाय ! आजन्म कर्म यह करन अपावन ।। ४ ।।

भये डोम के दास दाम ऐसे श्रम पायौ ।
कफन - खसौटा काज माँहि दिन जात बितायौ ॥
कौन कौन सी बातनि पैं दृग - बारि बिमोचैं ।
अपनी दसा लखैं कै दुख रानी कौ सोचैं ॥ ५ ॥

कै अजान बालक कौ अब संताप बिचारैं ।
भयौ कहा यह हाय ! होत मन हृदय बिदारैं ॥"
इहि बिधि बिबिध बिचार करत चारिहु दिसि टहरत ।
कबहुँ चलत, कहुँ चपल, कबहुँ काहू थल ठहरत ॥ ६ ॥

भई आनि तब साँझ घटा घिरि आई कारी ।
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी ॥
भये एकठा आनि तहाँ डाकिनि - पिसाच - गन ।
कूदत, करत किलोल, किलकि दौरत, तोरत तन ॥ ७ ॥

गई राति रहि सेस रंच पौ फाटन लागी ।
नृप के अंतिम परखन की पारी तब जागी ॥
टहरत टहरत बाम अंग लागे कछु फरकन ।
औ तिन्ही के संग अनायासहिं हिय धरकन ॥ ८ ॥

यह असगुन क्यौं होत कहा अब अनरथ ह्वै है ।
गयौ कहा रहि सेस, जाहि बिधना अब ख्वैहै ।
छूट्यौ राज - समाज, भये पुनि दास पराये ।
ऐसी महिषी हूं कौ उत दासी करि आये ॥ ९ ॥

औ अबोध बालकहूं कौं बिलखत संग भेज्यौ ।
इक मरिबे कौं छाँड़ि कहा जौ नाहिं अंगेज्यौ ॥
फरकी बाईं आँखि बहुरि सोचत बालक कौं ।
औ यह धुनि सुनि परी परम दृढ़ व्रत-पालक कौं ॥ १० ॥

"सावधान ! अब वत्स ! परिच्छा अंतिम है यह ।
डिगन न पावै सत्य, परिच्छा अंतिम है यह ।
ऐसो कठिन कलेस सह्यौ कोऊ नृप नाहीं ।
अपनेहिं कैसौ धैर्य धरौ याहू दुख माहीं ॥ ११ ॥

तब पुरुखा इक्ष्वाकु आदि सब नभ में ठाढ़े ।
सजल नयन, धरकत हिय-जुत; इहिं अवसर गाढ़े ॥
संसय, संका, सोक, सोच, संकोच, समाये ।
साँस रोकि तब मुख निरखत बिन पलक गिराये ॥ १२ ॥

देखहु तिनके सीस होन अवनत नहि पावैं ।
ऐसी विधि आचरहु सकल-जग-जन जस गावैं ॥
यह सुनि नृप ह्वै चकित चपल चारिहुँ दिसि हेर्यौ ।
"ऐसे कुसमय माँहि कौन हित सौं इमि टेर्यौ" ॥ १३ ॥

जब कोउ दीस्यौ नाहिं हृदय तब यह निरधार्यौ ।
"ज्ञात होत, कुल-गुरु सूरज यह मंत्र उचार्यौ ॥
ह्वै आतुर निज आवन मैं करि विलंब गुनावन !
उदयाचल की ओटहि सौं यह दीन्ह सिखावन" ॥ १४ ॥

यह बिचारि पुनि धारि धीर दृढ़ उत्तर दीन्ह्यौं ।
"महानुभाव ! महान अनुग्रह हम पै कीन्ह्यौं ॥
तजहु संक सब अंक कलंक लगन नहिं दैहैं ।
जब लौं घट मैं प्रान आनि कर सत्य निवैहैं" ॥ १५ ॥

एतेहि मैं स्रुति माँहि शब्द रोवन कौ आयौ ।
भूलि भाव सब और स्वामि-हित मैं चित लायौ ॥
लट्ठ ठोंकि तिहि ओर चले आतुर आहट पर ।
सांति मुनिनि की बाँटि गई तेहि घबराहट पर ॥ १६ ॥

पग उठावतहिं भये असुभ-सुभ-सगुन एक सँग।
जंबुक काटी बाट, लगे फरकन दहिने अँग ॥
बिगत बिषाद हर्षहत हिय धरि धैर्य, भाव भरि ।
होत हुतो जहँ रुदन तहाँ पहुँचे सुमिरत हरि ॥ १७ ॥

देखी सहित-बिलाप विकल रोवति इक नारी ।
धरे सामुहैं मृतक देह इक लघु आकारी ॥
कहति पुकारि पुकारि "बत्स ! मैया - मुख हेरौ ।
वीर - पुत्र ह्वै ऐसे कुसमय आँखि न फेरौ ॥ १८ ॥

हाय ! हमारौ लाल लियौ इमि लूटि बिधाता ।
अब काकौ मुख जोहि मोहि जीवै यह माता ॥
पति त्यागैं हूं रहे प्रान तब छोह - सहारे ।
सो तुमहूं अब हाय ! बिपति मैं छाँड़ि सिधारे ॥ १९ ॥

अबहि साँझ लौं तौ तुम रहे भली विधि खेलत ।
औंचकहीं मुरझात परे मम भुज मुख मेलत ॥
हाय । न बोले बहुरि इतोई उत्तर दीन्ह्यौ ।
'फूल - लेत गुरु - हेत साँप हमको डसि लीन्ह्यो' ॥ २० ॥

गयौ कहाँ सो साँप आनि क्यौं मोहुँ डसत ना ।
अरे ! प्रान किहि आस रहे अब बेगि नसत ना ॥
कबहुँ भाग - बस प्रान - नाथ जो दरसन दैहैं ।
तौ तिनकौं हम बदन कहौ किहि भाँति दिखैहैं ॥ २१ ॥

करि बिलाप इहि भाँति उठाय मृतक उर लायौ ।
चूमि कपोल, बिलोकि बदन, निज गोद लिटायौ ॥
हिय-बेधक यह दृश्य देखि नृप अति दुख पायौ ।
सके न सहि, बिलखाइ नैंकु हटि, सीस नवायौ ॥ २२ ॥

लगे कहन मन माँहिं "हाय ! याकौ दुख देखत ।
हम अपनोहूं दुसह दुःख न्यूनहिं करि लेखत ॥
ज्ञात होत, काहू कारन याकौ पति छूट्यौ ।
पुत्र-सोक कौ बज्र हिये ताहू पर टूट्यौ ॥ २३ ॥

हाय ! हाय !! याकौ दुख देखत फाटति छाती ।
दियौ कहा दुख अरे ! याहि बिधना दुरघाती ॥
हाय ! हमैं अब याहू सौं माँगन कर परिहै ।
पै याकैं सौंहैं कैसे यह बात निकरिहै" ॥ २४ ॥

पुनि भूपति कौ ध्यान गयौ ताकैं रोवन पर ।
बिलखि-बिलखि इमि भाषि सीसधुनिमुख-जोवन पर ॥
"पुत्र ! तोहिं लखि भाषत जे सब गुनि अरु पंडित ।
है यह महाराज, भोगिहै आयु अखंडित ॥ २५ ॥

तिनकै सो सब वाक्य हाय ! प्रतिकूल लखाये ।
पूजा, पाठ, दान, जप, तप सब बृथा जनाये ॥
तव पितु कौ दृढ़ सत्य-ब्रतहु कछु काम न आयौ ।
बालपनेहि मैं मरे, जथाविधि कफन न पायौ" ॥ २६ ॥

यह सुनि औरै भये भाव सब भूप-हृदय के ।
लगे दृगनि मैं फिरन रूप संसय अरु भय के ॥
चढ़ी ध्यान पै आनि पूर्व घटना सम ह्वै ह्वै ।
हिचकिचान से लगे कछुक सबकी दिसि ज्वै ज्वै ॥ २७ ॥

एतहि मैं रोवत रोवत सो बिलखि पुकारी ।
"हाय ! आज पूरी कौसिक सब आस तिहारी" ॥
यह सुनि एकाएक भई धक सौं नृप-छाती ।
भरी भराई सुरँग माँहिं लागी जनु बाती ॥ २८ ॥

धीरज उड्यौ धधाइ धूम दुख कौ घन छायौ।
भयौ महा अंधेर न हित अनहित दरसायौ ॥
बिबिध गुनावन महा मर्म-बेधी जिय जागे।
"हाय पुत्र ! हा रोहितास्व !" कहि रोवन लागे ॥ २६ ॥

"हाय ! भयौ को कहा, हमैं यह जात न जान्यौ।
जो पतिनी अरु पुत्रहि अबलौं नाहिं पिछान्यौ ॥
हाय ! पुत्र तुम कहा जनमि जग में सुख पायौ।
कीन्हौं कहा बिलास, कहा खेल्यौ अरु खायौ ॥ ३० ॥

हाय ! हमारैं काज कष्ट भोग्यौ तुम भारी।
राज-कुँवर ह्वै हाय ! भूख औ प्यास सँभारी ॥
पातक ही ह्वै गयौ आज लौं जौ हम कीन्हौं।
नतरु पुत्र कौ सोच दुसह अति क्यौं विधि दीन्हौं ॥ ३१ ॥

जग कौ यह वृत्तांत जनावन कैं पहिलैं ही।
महिषी कौं यह बदन दिखावन कैं पहिलैं ही ॥
जानि परत अति उचित प्रान तजि देन हमारौ।
जामैं सब संसार माँहि मुख होहि न कारौ" ॥ ३२ ॥

यह विचार करि कै पीपर के पास पधारे।
लीन्हीं डोरी खोल द्वैक घंटनि करि न्यारे ॥
मेल तिन्हैं पुनि एक छोर पर फाँद बनायौ।
चढ़ि एक साखा बाँधि छोर दूजौ लटकायौ ॥ ३३ ॥

पै ज्यौं ही गर माँहि फाँद दै कूदन चाह्यौ।
त्यौं ही सत्य-बिचार बहुरि उर माँहि उमाह्यौ ॥
'हरे !' हरे !! यह कहा बात हम अनुचित ठानी।
कहा हमैं अधिकार भई जब देह बिरानी ॥ ३४ ॥

अब तो हम हैं दास डोम के आज्ञाकारी।
रोहितास्व नहीं पुत्र, न सैव्या नारि हमारी॥
चलैं स्वामि के काज माँहि दृढ़ ह्वै चित लावैं।
लेहिं कफन कौ दान बेगि नहीं बिलँब लगावैं॥ ३५॥

"हाय! वत्स तुम बिन अब जग जीवित नहीं रैहैं।
याही छन इहिं ठाम प्रान काहू बिधि दैहैं॥
याहि बिटप सैं लाइ गरैं फाँसी मर जैहैं।
कै पाथर उर धारि धार मैं धाइ समैहैं"॥ ३६॥

यौं कहि उठि अकुलाइ चह्यौ धावन ज्यौं रानी।
त्यौं स्वर करि गंभीर तुरत बोले नृप बानी॥
'बेचि देह दासी ह्वै तब तौ धर्म सँभार्‌यौ।
अब अधरम क्यौं करति, कहा यह हृदय बिचार्‌यौ॥ ३७॥

या तव पै अधिकार कहा तुम कौं सोचौ छिन।
जानि-बूझ जौ मरन चली स्वामी आयसु बिन"॥
यह सुनि ह्वै चैतन्य महारानी मन आन्यौ।
"ऐसे कुसमय माँहि कौन हिय-मंत्र बखान्यौ॥ ३८॥

तब नृप बरबस रोकि आँसु सौंहैं बढ़ि आये।
थामि करेजौ धारि धीर ये शब्द सुनाये॥
"है मसानपति की आज्ञा कोउ मृतक फूकै ना।
जब लौं फूकनहार कफन आधौ कर दै ना॥ ३९॥

यातें देबी! देहु तुमहु कर क्रिया करौ तब"।
भर्‌यौ गगन यह शब्द भूप इमि टेरि कह्यौ जब॥
"धन्य! धैर्य, बल सत्य दान सब लसत तिहारैं।
अहो! भूप हरिचंद सकल लोकनि तैं न्यारैं"॥ ४०॥

यह सुनि सैव्या भई चकित बोली इत-उत ज्वै।
"आर्यपुत्र की करत प्रशंसा कौन हितू ह्वै॥
पै इहिं वृथा प्रशंसाहू सौं होत कहा फल।
जानि परत सब शास्त्र आदि अब तौ मिथ्या फल॥४१॥

निस्संदेह सुर सकल महीसुर स्वारथ-रत अति।
नातरु ऐसे धर्मी की कैसे ऐसी गति॥
यह सुनि स्रवननि धारि हाथ भूपति तिहिं टोक्यौ।
"हरे! हरे!! यह कहति कहा तुम", यौं कहि रोक्यौ॥४२॥

"सूर्यबंस की बधू, चंद कुल की ह्वै कन्या।
मुख सौं काढ़ति हाय! कहा यह बात अधन्या॥
वेद, ब्रह्म, ब्राह्मन, सुर सकल सत्य जिय जानौ।
दोष आपने कर्महि कौ निहचय करि मानौ॥४३॥

मुख सौं ऐसी बात भूलि फिर नाहिं निकारौ।
होत बिलंब, है हमैं कफन, करि क्रिया पधारौ॥'
सुनि यह अति दृढ़ वचन महिषि निज नाथहिं जान्यौ।
कछु प्रभाव-कछु स्वर, कछु आकृति सौं पहिचान्यौ॥४४॥

परी पायँ पर धाड़ फूटि पुनि रोवन लागी।
औरौं भई अधीर अधिक आरति जिय जागी॥
कह्यौ हुचकि "हा नाथ! हमैं ऐसौ बिसरायौ।
कहाँ हुते अब लौं कबहुँ नहिं बदन दिखायौ॥४५॥

हाय! आपने प्रिय सुत की यह दसा निहारौ।
लूटि गईं हम हाय! करहिं अब कहा उचारौ"॥
सुनि भूपति गहि सीस उठाय बिबिध समुझायौ।
"प्रिये! न छाड़ो धैर्य लखौ जो दैव लखायौ॥४६॥

चलौ हमें दै कफन क्रिया करि मौन सिधारौ ।
सुनौ वीर-पत्नी ह्वै धीरज नाहिं बिसारौ" ॥
यह सुनि सैव्या कह्यौ बिलखि अतिसय मन माँही ।
"नाथ ! हमारैं पास हुतौ वस्तर कोउ नाहीं ॥४७॥

अंचल फारि लपेटि मृतक फूकन ल्याई हैं ।
हा ! हा ! एती दूर बिना चादर आई हैं ॥
दीन्हें ! कफनहिं फारि लखहु सब अंग खुलत हैं ।
हाय ! चक्रवर्ती कौ सुत बिन कफन फुँकत है" ॥४८॥

कह्यौ भूप "हम, करहिं कहा, हैं दास पराये ।
फुँकन देन नहिं सकत मृतक बिन कर चुकवाये ॥
ऐसे हि अवसर माँहि पालिबो धर्म काम है ।
महा बिपति में रहै धैर्य सोई ललाम है ॥४९॥

बेंचि देहहूँ जिहि सत्यहिं राख्यौ मन ल्यावौ ।
एक टूक कपड़े पर, तेहि जनि आज छुड़ावौ ॥
फारि बसन तैं अर्ध, कफन कर बेगि चुकावौ ।
देखौ चाहत भयो भोर जनि बेर लगावौ" ॥५०॥

सुनि महिषी बिलखाइ कफन फारन उर ठान्यौ ।
पै ज्यौंही उत "जो आज्ञा" कहि हाथ बढ़ायो ॥
त्यौंही एकाएक लागी काँपन महि सारी ।
भयौ महा इक घोर शब्द अति बिस्मयकारी ॥५१॥

बाजे परे अनेक एक ही बेर सुनाई ।
बरसन लागे सुमन चहूँ दिसि जय-धुनि छाई ॥
फैलि गई चहुँ ओर बिज्जु कैसी उँजियारी ।
गहि लीन्हौ कर आनि अचानक हरि असुरारी ॥ ५२ ॥

लगे कहन दृग-बारि "बस महाराज ! बस !
सत्य-धर्म की परमावधि ह्वै गई आज बस ॥
पुनि पुनि काँपति धरा पुण्य-भय लखहुँ तिहारे ।
अब रच्छहु तिहुं लोक मानि कै बचन हमारे" ॥५३॥

करि दंडवत प्रनाम कह्यौ महिपाल जोरि कर ।
"हाय ! हमारैं काज कियौ यह कष्ट कृपा कर" ॥
एतोही कहि सके बहुरि नृप-गर भरि आयौ ।
तब सैब्या सौं नारायन यह टेरि सुनायौ ॥५४॥

"पुत्री ! अब मत करौ सोच सब कष्ट सिरायौ ।
धन्य भाग ! हरिचन्द भूप लौं पति जो पायौ" ॥
रोहितास्व की देह ओर पुनि देखि पुकार्‌यौ ।
"उठौ भई, बहु बेर ! कहा सोवन यह धार्‌यौ" ॥५५॥

एतौ कहतहि भयौ तुरत उठि कै सो ठाढ़ौ ।
जैसे कोऊ उठत बेगि तजि सौवन गाढ़ौ ॥
नारायन कौं लखि प्रनाम पुनि सादर कीन्ह्यौ ।
मातु-पितु कैं बहुरि धाय चरनन सिर दीन्ह्यौ ॥५६॥

सत्य, धर्म, भैरव, सिव, कौसिक, सुरपति ।
सब आये तेहि ठाम प्रशंसा करत जथामति ॥
दंपति पुत्र समेत सबहि सादर सिर नायौ ।
तब मुनि बिस्वामित्र दृगनि भरि बारि सुनायौ ॥५७॥

'धन्य भूप हरिचन्द ! लोग उत्तर जस लीन्ह्यौ ।
कौन सकत करि महाराज ! जैसे व्रत कीन्ह्यौ ॥
केवल चारिहुँ जुग मैं तव जस अमर रहन-हित ।
हम यह सबछल कियौ छमहु सौ अति उदार चित ॥५८॥

लीजै संसय-त्यागि राज सब-आहि तिहारौ"।
कह्यौ धर्म तब "हाँ हमकौ साखी निरधारौ"॥
बोलि उठ्यौ पुनि सत्य "हमैं दृढ़ करि तुम धार्‌यौ।
प्रृथिवी कहा, त्रिलोक-राज सब अहै तिहार्‌यौ"॥५६॥

गद्‌गद स्वर सौं सँभरि वहुरि बोले त्रिपुरारी।
"पुत्र! तोहि दैं कहा, लहैं हमहूं सुख भारी॥
निज करनी, हरि-कृपा आज तुम सब कुछ पायौ।
ब्रह्म-लोकहूं पै अविचल अधिकार जमायौ॥६०॥

तदपि देत हम यह असीस-'कल कीर्ति तिहारी।
जब लौं सूरज-चंद रहैं तिहुँ पुर उँजियारी॥
तव सुत रोहितास्व हूं होहि धर्म थिर थापी।
प्रबल चक्रवर्ती चिरजीवी महा प्रतापी"॥६१॥

तब अति उँमगि असीस दीन्ह गौरी सैव्या कौं।
"लछमी करहि निवास तिहारैं सदन सदा कौं॥
पुत्र-वधू सौभाग्यवती सुभ होहि तिहारी।
तव कीरति अति विमल सदा गावैं नर नारी"॥६२॥

यह असीस सुनि दंपति कौं दंपति सिर नायौ।
तैसेहि भैरव-नाथ बाक मैं बाक मिलायौ॥
"औ गावहि कै सुनहि जु कीरति विमल तिहारी।
सो भैरवी जातना सौं नहि होहि दुखारी"॥६३॥

देव-राज तब लाज-सहित नीचैं करि नैननि।
कह्यौ भूप सौं हाथ जोरि अतिसय मृदु बैननि॥
महाराज! यह सकल दुष्टता हुती हमारी।
पै तुमकौं तौ सोउ भई अति ही उपकारी॥६४॥

स्वर्ग कहै को, तुम अति स्रेष्ठ ब्रह्म-पद पायौ।
अब सब छमहु दोष जो कछु हमसौं बनि आयौ॥
लखहु तिहारैं हेत स्वयं संकर बरदानी।
उपाध्याय ह्वै बने बटुक नारद मुनि ज्ञानी ॥६५॥
बन्यौ धर्म आपुहि तब हित चण्डाल अघोरी।
बन्यौ सत्य ताकौ अनुचर यह बात न थोरी॥
बहुरि कह्यौ बैकुण्ठ-नाथ नृप - हाथ हाथ गहि।
"जो कछु इच्छा होहि और सो मांगहु बेगहि" ॥६६॥
यह सुनि गद्गद् स्वरनि कह्यौ महिपाल जोरि कर।
"करुणासिंध सुजान महा आनँद 'रत्नाकर' ॥
अब कोऊ इच्छा रही होहि मन माहि कहैं तो।
पै यौ हूं यह होति सफल बर वाच्य भरत कौ ॥६७॥
सज्जन कौं सुख होइ, सदा हरि पद गति भावै।
छूटै सब उपधर्म सत्य निज भारत पावै॥
मत्सरता अरु फूट रहन इहिं ठाम न पावै।
कुकविन कौ बिसराइ सुकवि - बानी जग गावै" ॥६८॥
बोले हरि मुद मानि "अजहुँ स्वारथ नहिं चीन्ह्यौं।
साधु! साधु! हरिचन्द जगत-हित मैं चित दीन्ह्यौं॥
इहि जुग तव कुल राज्य माहिं ह्वै है ऐसो ही।
तुम्हें देत सकुचाहिं न वर माँगो कैसो ही" ॥६९॥
यौं कहि पत्नी - संग नृपहि नर - अंगनि धारे।
रोहितास्व कौं सौंपि राज्य सब धर्म संभारे॥
निज विमान बैठाय बेगि बैकुंठ पधारे।
भई पुष्प-वर्षा सब जय जय सब्द उचारे ॥७०॥

(जगन्नाथदास 'रत्नाकर')

: ४४ :

सूक्तियाँ

(१)

जिनके हितकारी पंडित हैं तिनको कहा सत्रुन को डर है।
समुझैं जग में सब नीतिन्ह जो तिन्हें दुर्ग बिदेस मनो घर है।
जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनको तिनकाहू महासर है।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कबौं तिनकी जय ही सब ही थर है॥

(२)

जग सूरज चन्द टरैं तो टरैं पै न सज्जन नेह कबौं बिचलै।
धन संपति सर्बस गेहु नसौ नहिं प्रेम की मेंड़ सों एँड़ टलै॥
सतबादिन को तिनका सम प्रान, रहै तो रहै वा ढलै तौ ढलै॥
निज मीत की प्रीत प्रतीत रहौ इक ओर सबै जग जाउ भलै॥

: ४५ :

जगत में घर की फूट बुरी।

घर की फूटहिं सो बिनसाई सुबरन लंकपुरी।
फूटहिं सो सब कौरव नासे 'भारत युद्ध' भयो॥
जाको घाटो या भारत में अबलों नाहिं पुज्यो॥
फूटहिं सो जयचन्द बुलायो जवनन भारत धाम।
जाको फल अबलौं भोगत सब आरज होय गुलाम॥
फूटहिं सो नव नंद बिनासे गयो मगध को राज।
चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यो आपु नसे सह साज॥
जो जग में धन मान और बल अपुनी राखन।
तो अपने घर में भूले हू फूट करो मति कोय॥

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

: ४६ :

शिवाजी की प्रशंसा

(१)

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाडव सुअंब पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यौं सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुम-दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
'भूखन' वितुंड पर जैसे मृग राज है।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यौं मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

(२)

सवन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खड़ो कियो छ-हजारनि के नियरे।
जानि गैरमिसिल, गुसीला गुस्सा धारि उर,
कीन्हों न सलाम न बचन बोले सियरे॥
भूखन भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमकतें लाल मुख सिवा को निरखि भये,
स्याह-मुख नौरंग, सिपाह मुख-पियरे॥

(३)

चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति, चितै चाह करखति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है॥
थरथर काँपत कुतुबसाहि गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है॥

(४)

पूरब के, उत्तर के, प्रबल पछाँहहू के,
सब बादसाहन के गढ़ कोट हरते।
'भूखन' कहै यों अवरंगसों बजीर, जीति,
लेबेको पुरतगाल सागर उतरते॥
सरजा सिवापर पठावत मुहीम काज,
हजरत, हम मरबेको नाहीं डरते।
चाकर हैं, उजुर कियौ न जाय नेक पै,
कछू दिन उबरते तौ घने काज करते॥

(५)

जोर करि जैहैं अब अपर-नरेश पर,
तोरि अरि खंड-खंड सुभट समाज-पै।
'भूखन' असाम रूप बलख बुखारे जैहैं,
जैहैं साम, चीन तरि जलधि जहाज-पै॥
सब उमरावन की हठ कूरताई देखो,
कहैं नवरङ्गजेब साहि सिरताज-पै।

सौ

भीख माँग खैहैं, बिन मनसब रैहैं, पै न,
जैहैं, हजरत, महाबली सिवराज-पै ॥

(६)

दारा की न दौरि यह, रारि नहिं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है मुरादिसाह बाल को।
मठ बिस्वनाथ को न बास ग्राम गोकुल को,
देवि को न देहरा न मंदिर गोपाल को ॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें, अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर-ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सम्हारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

(७)

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कंदमूल भोग करैं, कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं ॥
भूखन सिथिल अंग, भूखन सिथिल अंग,
विजन डुलाती ते वै विजन डुलाती हैं।
'भूखन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं ॥

(८)

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहत छाती,
बाढ़ि मरजाद जस हद हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।

'भूषन' भनत दिल्लीपति दिल धकधका,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय मुंड,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की॥

(९)

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी में।
राखी राजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो, राख्यो गुन गुनी में॥
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानी तव सुनी में।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी में॥

(१०)

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में॥
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे बादसाह,
बैरी पीस राखे वरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥

(भूषण)

: ४७ :

दोहे

प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय ।
जो जन जानै प्रेम तो, मरै जगत क्यों कोय ॥१॥

प्रेम अगम् अनुपम अमित, सागर सरिस बखान ।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नाहिं रसखान ॥२॥

ज्ञान कर्म अरु उपासना, सब अहमित को मूल ।
दृढ़ निश्चय नहिं होत बिन, किये प्रेम अनुकूल ॥३॥

शास्त्रन पढ़ि पंडित भये, कै मौलवी कुरान ।
जुपै प्रेम जान्यो नहीं, कहा कियो रसखान ॥४॥

अति सूछम कोमल अतिहिं, अति पतरो अति दूर ।
प्रेम कठिन सब ते सदा, नित इक रस भरपूर ॥५॥

जग में सब जान्यो परै, अरु सब कहै कहाय ।
पै जगदीस अरु प्रेम यह, दोऊ अकथ लखाय ॥६॥

जेहि बिनु जानै कछु नहीं, जान्यो जात बिसेस ।
सोइ प्रेम जोइ जानि कै, रहि न जात कछु सेस ॥७॥

दम्पति-सुख अरु विषय रस, पूजा निष्ठा ध्यान ।
इनते परे बखानिये शुद्ध प्रेम रसखान ॥८॥

इक सदा चाहै न कछु, सहै सबै जो होय ।
रहै एक रस चाहि के, प्रेम बखानो सोय ॥९॥

हरि के सब आधीन पै, हरी प्रेम आधीन ।
याही ते हरि आपुही, याहि बड़प्पन दीन ॥१०॥

: ४८ :

सवैया

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन ।
औ खग हौं तो बसेरो करौं वहि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन ॥१॥

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूं पुर को तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नवों निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं ॥
रसखानि कवौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिन वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥२॥

धूर भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैजनीं बाजती पीरी कछोटी ।
वा छबि को रसखानि बिलोकत वारत काम कला निज कोटी ।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥३॥

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहिं निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ॥
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥४॥

आयो हुतो नियरे रसखानि कहा कहूं तू न गई वहि ठैया।
या ब्रज में सिगरी बनिता सब वारति प्रानन लेत बलैया॥
कोऊ न काहु की कानि करै कछु चेटक सो जु कर्‌यो जदुरैया।
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया॥ ५॥

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौं गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वारिन संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरे रसखानि सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरान धरौंगी॥ ६॥

बैन वही उनको गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै, अरु पाइ वही जो वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के संग, औ मान वही जो करै मनमानी।
त्यों रसखानि वही रसखानि जो है रसखानि सो है रसखानी॥७॥

द्रौपदि औ गनिका-गज-गीध-अजामिल सो कियो सो न निहारो।
गौतम गेहनि कैसे तरो प्रहलाद को कैसे हर्‌यो दुख भारो॥
काहे को सोच करै रसखानि कहा करिहैं रविनन्द बिचारो।
ताखन जाखन राखिये माखन चाखन हारो सो राखन हारो॥ ८॥

(रसखान)

दोहे

अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठ पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसरी, इन्द्रधनुष सी होति ॥१॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय ।
ज्यों ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय ॥२॥

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजो ही नाहिं ।
देखत बनै न देखते, विन देखे अकुलाहिं ॥३॥

कीजे चित्त सोई तिरौं, जिह पतितन के साथ ।
मेरे गुन औगुन गनन, गनो न गोपी नाथ ॥४॥

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो सम्पति जदुपति सदा, विपति विदारन हार ॥५॥

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय ।
यह खाये बौराय है, वह पाये बौराय ॥६॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार ॥७॥

एहि आसा अटक्यो रह्यौ, अलि गुलाब के मूल।
ह्वैहैं फेरि बसन्त-ऋतु, इन डारनि वे फूल ॥८॥

जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिए, आँखिन देखी जाहिं ॥९॥

जप, माला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचै वृथा, साँचे राचैं राम ॥१०॥

बुधि, अनुमान, प्रमान, श्रुत, किये नीठि ठहराय।
सूछम गति परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय ॥११॥

दीरघ साँस न लेइ दुख, सुख साँइहि न भूल।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूल ॥१२॥

मोहूँ दीजे मोष, ज्यों अनेक पतितनि दियो।
जो बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुननि ॥१३॥

(बिहारी)

: ५० :

दोहे

रहिमन यांचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात ।
नारायण हू को भयो, बावन अंगुर गात ॥१॥

संतत संपति जानके, सबको सब कोइ देय ।
दीनबंधु बिन दीन की, को रहीम सुधि लेय ॥२॥

धूर धरत निज शीश पर, कहु रहीम केहि काज ।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सोइ ढूंढ़त गजराज ॥३॥

जे गरीब सों हित करें, धनि रहीम वे लोग ।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥४॥

यह न रहीम सराहिये, लेन देन की प्रीति ।
प्रानन बाजी राखिये, हारि होय कै जीति ॥५॥

नादि रीझि तन देत मृग, नर धन लेत समेत ।
ते रहीम पशु ते अधिक, रीझेहु कछू न देत ॥६॥

होय न जाकी छाँह ढिग, फल रहीम अति दूर ।
बाढ़ेहु सो बिन काज ही, जैसे तार खजूर ॥७॥

(रहीम)

: ५१ :

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ॥

भाई छोड्या बंधु छोड्या छोड्या सगा सोई ।
साधु संग बैठि-बैठि लोक लाज खोई ॥

भगत देख राजी हुई जगत देख रोई ।
अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेलि बोई ॥

दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोई ।
राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई ॥

अब तो बात फैल गई जाणे सब कोई ।
'मीरा' रामलगन लागी होणी होय सो होई ॥

(मीराबाई)

: ५२ :

रघुवर तुमको मेरी लाज

सदा सदा मैं शरण तिहारी,
तुम बड़े गरीब निवाज ॥

पतित उधारन बिरद तिहारो,
स्रुवनन सुनि आवाज ।
हौं तो पतित पुरातन कहिये,
पार उतारो जहाज ॥

अघ-खण्डन दुःख मण्डन जन के,
यही तिहारो काज ।
'तुलसिदास' पर किरपा करिये,
भक्त दान देहु आज ॥

(तुलसीदास)

: ५३ :

ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवत दीन पर,
राम सरिस कोउ नाहीं ॥

जो गति योग विराग यतन करि,
नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति दई गीध सबरी कहँ,
प्रभु न बहुत जिय जानी ॥

जो संपति दस सीस अरपि,
रावण सिव पहँ लीन्हीं ।
सो सम्पदा विभीषण कहँ,
अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥

'तुलसिदास' सब भांति सकल सुख,
जो चाहसि मन मेरो ।
तो भजु राम काम सब पूरन,
करें कृपानिधि तेरो ॥

(तुलसीदास)

: ५४ :

मन पछतै है अवसर बीते

मन पछतै है अवसर बीते।

दुरलभ देह पाइ हरि-पद भजु, करम, वचन अरु हीते।
सहसबाहु, दसवदन आदि नृप, बचे न काल बली ते॥

हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठ रीते।
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते॥

अन्तहु तोहिं तजेंगे पामर, तू किन तजु अब ही ते।
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते॥

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घीते॥

(तुलसीदास)

: ५५ :

रामचरित मानस

बन गमन

जे पुर ग्राम बसहिं मग माहीं। तिन्हहिं नाग-सुर नगर सिहांहीं॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्यमय परम सुहाये॥
जहँ-जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुरवासी॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लखन सहित घनस्यामहिं॥
जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देवसरसरित सराहहिं॥
जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कल्पतरु तासु बड़ाई॥
परसि राम पद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥

छाँह करहिं घन, बिहगगन, बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहँग मृग, राम चले मग जाँहिं॥

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फल होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥
रामहिं दुखित एक अनुरागे। चितवत चले जांहिं सँग लागे॥
एक नयन मग छवि उर आनी। होंहिं शिथिल तन मन वर बानी॥

एक देखि वट छाँह भलि, डारि मृदुल तृन पात।
कहहिं गँवाइअ छिनुक स्रम, गवनब अबहिं कि प्रात?

एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदुबानी॥
सुनि प्रियवचन प्रीतिअतिदेखी। राम कृपालु सुशील बिसेखी॥
जानी सीय स्रमित मन माहीं। घरिक बिलम्ब कीन्ह वट छाँहीं॥
मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा॥
एकटक सब जोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुख चंद्र चकोरा।
तरुन तमाल बरन तन सोहा। देखत कोटि मदन मन मोहा॥
दामिनि बरन लखन सुठि नीके। नख सिख सुभग भावते जी के॥
मुनि वट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं कर कमलन धनु तीरा॥

जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।
सरद परव विधु बदन वर, लसत स्वेद कन जाल॥

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत मोर मति थोरी॥
राम लखन सिय सुन्दरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥
थके नारि नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआसे॥
सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाये। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाये॥
राजकुमारि विनय हम करहीं। तिय-सुभाव कछु पूछत डरहीं॥
स्वामिनि! अविनय छमब हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी॥
राजकुँवर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लहि दुति मरवत सोने॥

स्यामल गौर किसोर वर, सुन्दर सुखमा ऐन।
सरद - सर्वरी-नाथ - मुख, सरद-सरोरुह-नैन ॥

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि! कहहु को अहहि तुम्हारे?
सुनु सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी ॥
तिनहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ संकोच सकुचतिबरबरनी ॥
सकुचि सप्रेम बालमृग-नयनी। बोली मधुर वचन पिक-वयनी ॥
सहज सुभाव सुभगतनु गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे ॥
वहुरि वदन विधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पिय कहेउ तिनहिं सिइ सयननि
भईं मुदित सब ग्राम-बधूटी। रंकन्हि रतन-रासि जनु लूटी ॥

अति सप्रेम सिय पाँय परि, बहु विधि देहिं असीस।
सदा सुहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहि सीस ॥

(तुलसीदास)

: ५६ :

अब नाथ मोहिं उधारि ।

अब नाथ मोहिं उधारि ।
मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपासिंधु मुरारि !।

नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरति रंग ।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग ॥

मीन इन्द्रिय अतिहिं काटति मोट अघ सिर भार ।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सिवार ॥

काम-क्रोध समेत तृस्ना पवन अति झकझोर ।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर ॥

थक्यो बीचि बिहाल बिह्वल सुनो करुना-मूल ।
स्याम भुज गहि काढ़ि लीजै 'सूर' ब्रज के कूल

(सूरदास)

: ५७ :

ऊधो, हमहिं कहा समझावहु ?

ऊधो, हमहिं कहा समझावहु ?
पसु, पंछी, सुरभी ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु ॥

तृन न चरत गो पिवत न सुत पय, ढूँढ़त बन बन डोलैं।
अलि कोकिल जे आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं ॥

जमुन भई तन स्याम; स्याम बिनु, अन्ध छीन जे रोगी।
तरुवर पत्र बसन न सँभारत, विरह वृच्छ भये योगी ॥

गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन।
'सूरदास' प्रभु मान न छूटत, अवधि आस में लीन ॥

(सूरदास)

: ५८ :

विनय

मो सम कौन कुटिल खल कामी।

जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो कौन हरामी॥

भरि भरि उदर विषय को धावौ, जैसे सूकर ग्रामी।
हरि-जन छाँड़ि हरी-विमुखन की निसि दिन करत गुलामी॥

पापी कौन बड़ौ है मोते; सब पतितन में नामी।
'सूर' पतित कौं ठौर वहाँ है, सुनिये श्रीपति स्वामी॥ ६॥

(सूरदास)

: ५६ :

ऊधो मन माने की बात।

ऊधो मन माने की बात।

दाख-छोहारा छाँड़ि अमृत-फल, विष-कीरा विष खात॥

जो चकोर को दइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बँधत कमल के पात॥

ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, सोई ताहि सुहात॥

(सूरदास)

: ६० :

दोहे

जो तू साँचा बानियाँ, साँची हाट लगाव।
अन्दर झाड़ू देइ के, कूड़ा दूर बहाव ॥ १ ॥

मोर तोर के जेवरी, बटि बाँधा संसार।
दास 'कबीरा' क्यों बँधे, जाके नाम अधार ॥ २ ॥

मन मथुरा, दिल द्वारका, काया काशी जानु।
दस द्वारे का देहरा, तामे जोति पिछानु ॥ ३ ॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़-खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर ॥ ४ ॥

प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भजै न कोय।
कह 'कबीर' प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ॥ ५ ॥

चलो-चलो सब कोई कहै, पहुँचे बिरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय ॥ ६ ॥

केसन कहा बिगारिया, जो मूड़ौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िये, जामें होय विकार ॥ ७ ॥

मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधू कोई एक ॥ ८ ॥

कबिरा मन तो एक है, भावै तहाँ लगाय।
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाय ॥ ९ ॥

मन के बहुतक रंग हैं, छिन-छिन बदलै सोय।
एकै रंग में जो रहै, ऐसा बिरला कोय ॥ १० ॥

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
कह 'कबीर' प्यो पाइये, मन ही की परतीत ॥ ११ ॥

प्रेम प्रीति सों जो मिलै, तासों मिलिये धाय।
अंतर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय ॥ १२ ॥

माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रूँदै मोहि।
यक दिन ऐसा होयगा, मैं रोदूँगी तोहि ॥ १३ ॥

आस पास जोधा खड़े सबै बजावै गाल।
माँझ महल से ले चला, ऐसा काल कराल ॥ १४ ॥

माली आवत देखिके, कलियाँ करैं पुकार।
फूली-फूली चुनि लई, कालि हमारी बार ॥ १५ ॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, शीश देइ लै जाय ॥ १६ ॥

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डालके, पिय को लिया रिझाय ॥ १७ ॥

प्रेम छिपाया ना छिपे, जा घट परगट होय।
जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय ॥ १८ ॥

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥ १९ ॥

: ६१ :

प्रार्थना

माधव हम परिणाम निराशा।
तुहुं जग तारण दीन दयामय अतए तोहार विसवासा॥

आध जनम हम नींदे गमाओल जरा शिशु कत दिन गेला।
निधुवन रमनी रस रँग मातल तोहें भजब कौन बेला॥

कत चतुरानन मरि मरि जाएत न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत सागर लहरि समाना॥

भनए विद्यापति सेस शमन भय तुअ विनु गति नहीं आरा।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा॥

(विद्यापति ठाकुर)

: ६२ :

दूहा

समदरसी ते निकट है भुगुति मुकुति भरपूर ।
विषम दरस वा नरन तें सदा संपदा दूर ॥१॥

परयोषित परसै नहीं, ते जीते जग बीच ।
परयित तक्कत रैन दिन ते हारे जग नीच ॥२॥

चढ़े राज द्रुगाह नृपति, सुमत राज प्रथिराज ।
अति अनन्द आनन्द सै हिन्दवान-सिरताज ॥३॥

(चन्द बरदाई)

: ६३ :

पद्य

(१)

भल्ला हुआ जो मारिया बहिनि, म्हारा कन्तु ।
लज्जेज्जंतु वयंसियह, जदू भागा घर एन्तु ॥

(२)

जेनिअहि न परदोस, गुरिनहि जि पयदिअ तोस ।
तेजगि महाणुभावा, विरला सरल सहावा ॥

(३)

पर गुण गहन सदोष पयाप्रणु,
महु महुरक्ख रहि अमिअफासरगु ।
उवयारिण पडिकिओ वेरि अणहं,
इअपद्धडी मणोहर सुअणह ॥

(हेमचन्द्र सूरि)

परिशिष्ट

स्वतंत्र भारत का राष्ट्रीय गीत

: १ :

❀ वन्देमातरम् ❀

वन्दे मातरम् ।

सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्,
सस्य श्यामलाम्—मातरम् । वन्दे मातरम् ।
शुभ्र ज्योत्स्नां—पुलकित—यामिनीम्,
फुल्ल कुसुमित द्रुमदल शोभिनीम् ।
सुहासिनीम् सुमधुर भाषिणीम्,
सुखदाम् वरदाम् मातरम् । वन्दे मातरम् ।
त्रिंश-कोटि कंठ कल कल—निनाद कराले,
द्विंत्रिंशकोटि भुजैर्धृत—खर—करवाले ।
के बोले मां तुमि अबले ?
बहुबल धारिणीम् नमामि तारिणीम्,
रिपुदल-वारिणीम् मातरम् । वन्दे मातरम् ॥

(बंकिमचन्द्र चटर्जी)

नोट—विद्यार्थियों को उचित है कि राष्ट्र-गान तथा देशभक्ति के इन काव्यों को कंठस्थ कर लें। इनका जीवन में महान् उपयोग है।

: २ :

स्वतंत्र भारत का राष्ट्रीय गीत

जन, गण, मन—अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता,
पंजाब सिन्ध गुजरात मराठा, द्राविड़ उत्कल बंगा
विन्ध्य हिमाचल जमना गंगा, उच्छल जलधि तरंगा
तव शुभ नामे जागे
तव शुभ आशिष मांगे
गाए तव जय-गाथा
जन गण—मंगल दायक जय हे, भारत भाग्य विधाता !
जय हे ! जय हे !! जय हे !!!
जय जय जय जय हे !

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

: ३ :

भारतमाता

अयिभुवन मनमोहिनि !
अयि निर्मल सूर्य करोज्वल धारिणि !
जनक — जननी — जननी !

नील सिन्धु जल धौत चरणतल,
अनिल विकम्पित - श्यामल अंचल,
अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल
शुभ्र-तुषार-किरीटिनी ।

प्रथम प्रभात उदित तव गगने,
प्रथम साम-रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वनभवने,
ज्ञान धर्म दया सत् प्रचारिणी !

: ४ :

देश भक्ति

अयि मातृ-भूमि तेरे चरणों में शिर नवाऊँ ।
मैं भक्ति भेंट अपनी, तेरी शरण में लाऊँ ॥

माथे पै तू ही चन्दन, छाती पै तू ही माला ।
जिह्वा पै गीत तू ही, मैं तेरा नाम गाऊँ ॥

जिससे सुपूत उपजे, श्रीराम कृष्ण जैसे ।
उस तेरी धूलि को मैं, निज सीस पै चढ़ाऊँ ॥

मानी समुद्र जिसकी, धूलि का पान करके ।
करता है मान तेरे, उस पैर को मनाऊँ ॥

सेवा में तेरी सारे, भेदों को भूल जाऊँ ।
वह पुण्य नाम तेरा, प्रतिदिन सुनूँ सुनाऊँ ॥

तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही मन्त्र गाऊँ ।
मन और देह तुझ पर, बलिदान मैं चढ़ाऊँ ॥

: ५ :

हिन्दोस्ताँ हमारा

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा ।
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलसिताँ हमारा ॥

गुरबत में हों अगर हम, रहता है दिल वतन में ।
समझो हमें वहीं पर, दिल हो जहाँ हमारा ॥

परबत वह सबसे ऊँचा, हमसाया आसमाँ का ।
वह सन्तरी हमारा, वह पासबाँ हमारा ॥

गोदी में खेलती हैं, जिसकी हज़ारों नदियाँ ।
गुलशन है जिसके दम से, रश्के जिनाँ हमारा ॥

मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना ।
हिन्दी हैं, हम वतन हैं, हिन्दोस्ताँ हमारा ॥

कुछ बात है कि हस्ती, मिटती नहीं हमारी ।
सदियों रहा है दुश्मन, दौरे जमाँ हमारा ॥

(इक़बाल)

शब्दकोष तथा व्याख्या

(१)

प्रमुदित—प्रसन्न। इस कविता का तात्पर्य है—देशभक्ति।

(२)

उदधि—समुद्र।

नभ—आकाश।

अनङ्ग—कामदेव। मधु—वसन्त दलित-त्राण-दुखियों की रक्षा। अतीत—भूतकाल (तात्पर्य) वीरता का संचार।

(३)

धर्मभीरु-धर्मात्मा। सहचरी-धर्मपत्नी! प्रहरी-पहरेदार। रोष-क्रोध। यम-मृत्यु। त्राण-रक्षा। (तात्पर्य) विजयादशमी भारतवर्ष की जीत का संकेत है! स्वतन्त्र भारत शत्रुओं पर उसी प्रकार फिर जीत प्राप्त करे जैसे राम ने रावण पर प्राप्त की थी—यही इस कविता का आशय है।

(४)

दुर्दम—जिन्हें दबाया न जा सके। अवनि—पृथिवी झंझा—आंधी। (तात्पर्य) मनुष्य को सदा प्रगतिशील बनने का यत्न करना चाहिये। गति ही जीवन है।

(५)

बन्दनवार—फूलमालाएं आदि जिनसे द्वारों को सजाया जाता है। शिरा-शिरा में—नस-नस में।

तात्पर्य—नवयुग के शुभ आगमन का स्वागत करो।

(६)

वासन्ती—वसन्त की। ऊसर—बंजर भूमि। बयार—वायु। बौरों ने—कलियों ने। चाहें—इच्छायें। सरिता—नदी। नूपुर—पाजेब, पैर का आभूषण।

(तात्पर्य) देश में नवजीवन का फिर संचार हो रहा है।

(७)

अनुराग—प्रेम। समाधि—चित्त की एकाग्रता। पयोधर—बादल। उर सागर—दिल का समुद्र। नेह—स्नेह। संचित—इकट्ठा किये हुए। पाहुन—अतिथि, मेहमान। घनों को—बादलों को।

(तात्पर्य) प्रेम की सच्ची साधना यही है कि उसकी अग्नि में सदा जलता रहे, आतुर न हो। निष्काम-भावना ही सच्चा प्रेम है।

(८)

विषाद—शोक। खुमार—नशा, मस्ती। व्यथित—दुखी। नीरव—निःशब्द, खामोश। अन्तरतम—बुद्धि का अन्धकार।

(तात्पर्य) प्रेम की पराकाष्ठा, अपने आपे को मिटा देने ही में है। इसीलिए कहा है—'मिटना है मधुर जीत' मृत्यु से पहले मर मिटना ही जीवन है।

(९)

शैशव—बालपन। सुमन—फूल। अंक—गोद। मञ्जुल—मधुर। सम्पदा—दौलत। मधुप—भौंरा। उद्यान—बाग। धरा—भूमि। सौरभ—सुगन्ध।

(तात्पर्य) विधाता की ऐसी ही रचना है कि इस लोक में
ीवन के उत्तर मृत्यु प्राप्त हो। सबको मरना है, और हर एक
ो अपनी मृत्यु की पूर्ति का भार आप ही उठाना है। मनुष्य को
र्य तथा साहस से काम लेना चाहिए, औरों की निन्दा तथा
ापवाद करना उचित नहीं।

(१०)

जनहित—लोक की भलाई। निर्भीक—निडर।

(व्याख्या) जिस प्रकार शिवजी ने संसार के पाप रूपी विष
ा पान करके, लोक की रक्षा की। उसी प्रकार महात्मा गाँधी
भी औरों का दुख बटोर कर आप दुख सहा।

(११)

जीवन्मृत—जीते जी जो मर चुके, निडर। कन्या—कन्या-
मारी दक्षिण भारत से उत्तर भारत काश्मीर तक जाग हो गई
। आसीन—स्थिर।

(१२)

वक्ष—छाती। दर्प—अहंकार।

(तात्पर्य) क्षुद्रता को छोड़कर, महापुरुषों के समान आचरण
ा महान् करो।

(१३)

विनीत—संयम शील। निजत्व—ममता। रजनी—रात्रि।
ोनीत—अपनी इच्छा से चुना हुआ। रजतरेखा—रुपहरी
ह।

(तात्पर्य) दुख में से सुख को निकालने का यत्न करो, वह
च्चा सुख होगा।

(१४)

कुहर-कोहरा। भीति-शीत—भय की जड़ता। कासार—सर,

तड़ाग। दिनमणि—सूर्य। सरसिज—कमल। मलयज—चन्दन
मही–भूमि। स्रोता–स्रोत, नदी। प्रसून—फूल। पराग–सुगन्ध।
कागार—घर। मयङ्क—चन्द्रमा। कौमुदी—चाँदनी

(तात्पर्य) नये वर्ष के आगमन पर नये जीवन के लिए शुभ कामना है।

(१५)

कोलाहल—गुल, झगड़ा। तृषाकुल—प्यास से आतुर। समर—संग्राम।

(तात्पर्य) बुराई का बदला बुराई से न लो। बुराई के बदले में भी भलाई करो।

(१६)

आत्म-त्याग—निष्काम भाव। निषंग—तरकश

(तात्पर्य) मनुष्य जीवन को ऊंचा उठाने की उमंग को कभी घटने न दो, उसे बढ़ाये जाओ।

(१७)

अविरल—घना। अजस्र—लगातार। उपल—ओले। सकरीली—सकड़ी, तंग।

(तात्पर्य) उद्योग तथा पुरुषार्थ का संदेश है॥

(१८)

कोरी पाटी—साफ तखती (स्वच्छ मन)। ज्ञानमुखर—ज्ञान की बातें करने वाले। कर्मलीन—कर्मयोगी, निष्काम कर्म करने वाले।

(तात्पर्य) बुराई को दूर करो और भलाई को अपनाओ।

(१९)

तिमिर—अन्धकार। तड़ित—बिजली। अनिल—वायु। अनल—अग्नि। रक्त—लहू। बड़वानल—समुद्र की अग्नि। कर—हाथ। उर—छाती। व्रण—जख्म।

(तात्पर्य) जीवन में आगे बढ़े चलो। गतिरोध न हो। गति ही जीवन है। निडर बनो और प्रगतिशील हो।

(२०)

मनमोहन—श्रीकृष्ण। पैगम्बर—मोहम्मद साहिब। पुनीत—पवित्र। शुद्धोदन का लाल अथवा लाड़ला—शुद्धोदन का प्यारा बेटा गौतम जो बुद्ध भगवान् के पद को प्राप्त हुआ। कर्मवीर—कर्मयोगी।

(२१)

शृंगी—सींगी। विवाद—शब्द-ध्वनि। कटि—कमर। व्याघ्रांबर—व्याघ्र का चर्म, जो शिवजी ने वस्त्ररूप पहना है। प्राचीर—दीवारें भग्नावशेष' खंडहर। लक्ष्य-संधान-लक्ष्य को बींधना। पदाति—पैदल सेना के सिपाही। कुल का पानी—कुल की आन।

(तात्पर्य) भारतवर्ष सजग हो और उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़े।

(२२)

उत्सर्ग—त्याग। समरसिंधु—संग्रामसागर। स्वाहा कर डाला—जला डाला। शोणित—लहू।

(तात्पर्य) प्रताप की नाईं वीर बनो और स्वतन्त्र भारत की रक्षा करो।

(२३)

पराग—सुगन्ध। जौहरव्रत—राजपूत स्त्रियां शत्रुओं के पंजे से बचने के लिए विवश अपने-आपको आग में जला देती थीं। इस रीति का नाम "जौहर" है।

(तात्पर्य) चित्तौड़ की स्वतन्त्र भूमि जिसकी रक्षा के लिए राणाप्रताप ने अपनी जान की आहुति दी भारत की स्वतन्त्रता का प्रतीक है।

(२४)

अरि–शत्रु । कुन्तल–शस्त्र-भाला । करवाल–तलवार । अवनि–पृथ्वी ।

(तात्पर्य) भारतवर्ष की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए भारत के वीर योद्धा अपने प्राणों की आहुति देने में सदा तत्पर रहे हैं । उस मर्यादा का पालन करो ।

(२५)

चरमोन्नत–सबसे अधिक ऊंचे । उत्पीड़न–दुःख । श्लाघ्य–सराहनीय । नवोन्मेष–नई जाग्रति ।

(तात्पर्य) राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के पथ पर चलो ।

(२६)

श्यामल–सांवला । नीरव–निःशब्द । तम–अन्धकार, अज्ञान । विषण्ण–हताश । क्षुधित–भूखे । सहिष्णु–सहनशील । क्रंदन–रोता हुआ । स्तन्य–दूध । सुधोपम–अमृत के समान । जीवन-विकासिनी–जीवन का विकास करने वाली ।

(तात्पर्य) भारत का यशगान करो और उसकी स्वतन्त्रता पर मर मिटो ।

(२७)

अकर्मण्य–वेकार, निष्क्रिय । राका–चांदनी । कामदा–कामनाओं का पूरा करने वाला ।

(तात्पर्य) चरखा भारत की दरिद्रता को दूर करने में सहायक है इसे अपनाओ, इससे भारत को अनेक प्रकार का लाभ होगा ।

(२८)

निर्वाणोन्मुख–मुक्ति दिलाने वाले । वरेण्य–वरने योग्य, श्रेष्ठ ।

शिलान्यास—बुनियाद पत्थर रखना। शव—मुरदा, लाश। सामंत-काल—तानाशाही राज्य का समय। पराभव—हार। जनगण तंत्र—लोक राज। अश्वत्थ-विश्व—संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति परमात्मा से होने के कारण, गीता में कहा है कि यह वृक्ष ऊर्ध्वमूल है अर्थात् इसकी जड़ ऊपर है। आत्मा से प्रकृति का विकास माना है। किन्तु आजकल प्रकृतिवाद चल रहा है और जीवन रूपी वृक्ष को अधोमूल अर्थात् नीचे प्रकृति ही से उत्पन्न हुआ मानकर, दुर्व्यवहार होता है। और धर्म के थान में अधर्म फैल गया। इस अधर्म को रोकने में महात्मा जी सहायक हुए हैं।

(तात्पर्य) महात्मा जी के पथ पर चलने में लोक-कल्याण है।

(२६)

गगनचुंबि—आकाश को चुंबन करने वाली। इन्द्रचापवत्—इन्द्र धनुष के समान। श्रमजीवी—मजदूर। ध्येय—लक्ष्य। ऊर्मि—लहर।

(तात्पर्य) भारत की महिमा और उसके यश का सदा गान करते रहो।

(३०)

नृशंस—कठोर। अहंमन्य—अहंकारी, अभिमानी। गरल—विष।

(तात्पर्य) पूंजीपति जो स्वार्थ के निमित्त जन समूह का शोषण करते हैं, उन्हें धिक्कार है।

(३१)

मान्यवर—समाज में सबके साथ एक-सा बर्ताव। परित्राण—रक्षा। अद्वैत—एकता। आभास—प्रकाश। अविवाद—निःसन्देह।

(तात्पर्य) गांधीवाद का अनुकरण लोक-हितकारी है।

(३२)

अवगुंठन—घूंघट। तमस्–अज्ञान।

(तात्पर्य) ज्ञान के प्रकाश का स्वागत करो।

(३३)

जीवन-यापन—जीवन-निर्वाह। संस्कृत—शुद्ध—परिष्कृत।

(तात्पर्य) नई संस्कृति अर्थात् सभ्यता के उच्च आदर्शों का अवलम्बन करें

(३४)

परशोध—बदला। सहिष्णु—सहनशील। संत्रस्त—भय-भीत। भव्य—स्वरूप। उपकरण—साधन।

(तात्पर्य) नैतिकता के आधार पर मनुष्य के चरित्र का निर्माण होना लोकहित के लिए आवश्यक है।

(३५)

विश्व-वेदना—संसार के दुःख।

(तात्पर्य) पराये दुख को अपना दुख मानो। सबसे अपने-पन का बर्ताव करो, उसी में तुम्हारा कल्याण है।

(३६)

आनन—मुख

(तात्पर्य) संसार में सुख भी है, दुःख भी है। मनुष्य को चाहिए कि वह निः संग रहे। इस प्रकार वह सब बन्धनों से मुक्त होता है।

(३७)

वसन—कपड़े। सुमन—फूल।

(तात्पर्य) भारत की वन्दना करो।

(३८)

विभावरी—रात्रि। नयन-नीर—आँसू। समीर—वायु।

चतुरङ्ग चमू—चार अङ्ग वाली सेना। (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल यह सेना के चार अङ्ग हैं) चतुरङ्ग शब्द का अपभ्रंश है–शतरंज (एक खेल)। मृत्युञ्जय–मृत्यु के विजेता, अमर। व्योमकेश–शिवजी

(तात्पर्य) अपने आत्मस्वरूप को पहचानो। तुम दास नहीं, महान् हो। सब नीच वासनाओं का त्याग कर अपने आत्म स्वभाव में स्थिर रहो। अज्ञान की निद्रा को छोड़कर जागो फिर एक वार।

(३६)

परहितोद्यत–दूसरों की भलाई करने में तत्पर। कमठ–कछुआ, वदान्यता—दानशीलता। हुताशन—अग्नि। सुरभि–सुगन्ध। जलद–बादल।

(तात्पर्य) सज्जन के लक्षण ग्रहण करो

(४०)

अभिनन्दन—स्वागत। व्योम—आकाश। संसृति–सृष्टि। पुरंदर—इन्द्र। पवि—इन्द्र का वज्र। यवन—यूनान। स्वर्ण-भूमि—सुमात्रा। (वर्मा ?) सिंह—लंका।

(तात्पर्य) भारतवर्ष के माहात्म्य पर विचार करो और उच्च पद को प्रप्त करो

(४१)

दुर्भिक्ष—अकाल। प्रभञ्जन—आंधी। अविराम—लगातार। बुभुक्षा—भूख।

(तात्पर्य) भारत की दरिद्रता को दूर।करने के प्रयत्न करो।

(४२)

पार्थ—अर्जुन। श्रीवत्सलांछन विष्णु—श्री कृष्ण। अनघ–पुण्यात्मा। विज्ञता—बुद्धि। पामर—मूर्ख। षड्यन्त्र–छल-कपट। अरुणिमा—लाली। अरिन्दम—शत्रुओं का दम करने वाले।

चञ्चला—बिजली। त्वर—शीघ्र। खल—दुष्ट। धार्तराष्ट्र—कौरव। दुर्वृत्त—दुराचारी। शार्ङ्गपाणि—विष्णु।

(तात्पर्य) संकट पड़ने पर भी वीरता और पराक्रम से काम लो।

(४३)

कर—'टैक्स'। महिषी—रानी। कौसिक—विश्वामित्र। आर्यपुत्र—भारतीय नारी पति को आर्यपुत्र के नाम से पुकारती थी। सदन—महल, घर।

(तात्पर्य) हरिश्चन्द्र की नाईं सत्य पर दृढ़ रहो।

(४४)

(३) (तात्पर्य) भारतवासी आपस की फूट को छोड़ दें, इससे भारतवर्ष को बहुत हानि पहुँची है।

(४५)

(१) (भावार्थ) जिस प्रकार 'जम्भ' नाम असुर पर इन्द्र ने विजय पाई, जिस प्रकार समुद्र पर बडवानल अग्नि ने, और दंभी रावण पर रामचन्द्र जी ने विजय पाई; जिस प्रकार मेघ पर पवन, कामदेव पर शिवजी और सहस्रबाहु पर परशुराम जी ने विजय पाई है।

वृक्षों के झुंड पर वन की अग्नि, मृगों पर चीता, हाथियों पर शेर, अन्धकार पर प्रकाश, कंस पर कृष्ण जैसे विजयशील हैं वैसे ही औरंगज़ेब के दल पर शिवराज काल स्वरूप सवार हैं॥

(२) (भावार्थ) जो शिवाजी सबसे उत्तम स्थान पाने के योग्य थे उनको औरंगज़ेब ने छः हज़ारी सरदारों के पास खड़ा किया। इस निरादर को देखकर शिवाजी को क्रोध आया और उन्होंने औरंगज़ेब को न तो सलाम किया और न उससे बात ही की और आप ही आप क्रोध से शिवाजी बड़बड़ाने लगे। बादशाह के दरबारी यह देखकर घबरा गये। शिवाजी का मुख

क्रोध से लाल था, औरंगजेब का मुंह काला हो गया और उसके सिपाहियों के मुंह भय से पीले पड़ गये।

(३) (भावार्थ) भूषण कवि कहते हैं, हे शिवाजी! तुम्हारे भय से औरंगजेब बार-बार चौंक पड़ता है। उसके दिल में तुम्हारा डर बैठा है। बीजापुर का नवाब तुम से कांपता है॥ अंग्रेजों की स्त्रियां इस डर से भागती फिरती हैं कि तुम अंग्रेजों की भी खूब खबर लेते हो। गोलकुंडा का कुतुब शाह थर-थर काँपता है। 'हबस' का शाह तुमसे भयभीत है। शिवाजी महाराज के नगारों की गड़गड़ाहट से न जाने कितने बादशाहों की छातियां डर के मारे फटी जा रही हैं।

(४) गढ़ कोट—नगर दुर्ग। मुहीम—युद्ध।

(५) मनसब—सैनिक पद।

(६) (भावार्थ) ए औरंगजेब! यह दारा की चढ़ाई नहीं है और न खजुवे की लड़ाई। न यह बालक मुराद का क़ैद करना है। यह काशी विश्वनाथ का मठ नहीं है और न यह गोकुल ग्राम का निवास है न यह वीरसिंह देव का मथुरा वाला देहरा है और न गोपाल जी का मन्दिर है। तुमने बड़े-बड़े दुर्ग जीते और शत्रुओं का वध किया, स्थान-स्थान पर साल भर का कर इकट्ठा किया। किन्तु ऐ दिल्ली पति संभल। दिल्ली डूब रही है, क्योंकि अब महाकाल रूपी शिवाजी से टक्कर है॥

(७) (भावार्थ) भूषण कवि कहता है—हे शिवाजी, तुम्हारे भय से ऊंचे महलों में रहने वाली मुग़ल बादशाहों की स्त्रियां अब पर्वत की गुहाओं में छिपती फिरती हैं। जो मिठाइयां खाती थीं वह अब जड़ी बूटियों पर गुजर करती हैं। जो दिन में तीन बार खाती थीं वह अब तीन बेर के फल बीनकर खाती हैं। आभषणों के बोझ से जिनके अंग शिथिल थे अब उनके अंग

भूख के कारण ढीले पड़ रहे हैं जिन्हें दासियां पंखे झलती थीं वह अब निर्जन वन में घूमती फिरती हैं। जो रत्न जड़ित आभूषणों से सजी रहती थीं वे अब नंगी सरदी से जड़ाई मर रही हैं।

(८) चकत्ता का घराना—औरंगज़ेब का राजमहल।

(९) शाह जी के सपूत शिवाजी महाराज। तुम्हारी तलवार ने हिन्दुओं के हिन्दूपन की रक्षा की, उनके माथे का तिलक बचाया। स्मृति, वेद, पुराणादि धर्म-ग्रन्थों की रक्षा की। क्षत्रिय धर्म की रक्षा की, हिन्दू राजाओं की राजधानियों को लुटने से बचाया। पृथ्वी पर धर्म की रक्षा की। गुणी लोगों के गुणों को नष्ट होने से बचाया। मरहटों की विजय की कीर्ति देश देशान्तरों में फैल गई है। दिल्ली के औरंगजेब की सेना को दबाकर तुमने अपनी तलवार से लोकमर्यादा को स्थापित किया है।

(१०) शिवाजी महाराज ! तुमने अपनी तलवार के बल से वेद और पुराणों की रक्षा की। जिह्वा पर राम का नाम तुम्हारे ही प्रताप से लेने को मिलता है।

हिन्दू की चोटी, सिपाही की रोटी, कन्धे का जनेऊ, गले की माला,—यह सब तुम्हारी बदौलत ही तो बचा है। मुगलों का मर्दन करके बादशाहों को वश में करके शत्रुओं का तुमने दमन किया और वरदान की शक्ति अपने हाथ में ले ली। राजाओं के राज्यों की सीमा की तुमने रक्षा की। देवता, देवताओं के मन्दिर और हिन्दुओं के कुल धर्म और पवित्र घरों को तुमने अपनी तलवार के जोर से,शत्रुओं के पंजे से बचाया।

(४८)

बहुरि—फिर। दम्पति-सुख—पति-पत्नी-प्रेम।

(तात्पर्य) सच्चे प्रेम से अपने मन को पवित्र करो।

(४६)

(सवैया)

मझारन—मध्य में। पाहन—पाषाण, पत्थर। पुरन्दर—इन्द्र। खग—पक्षी। कालिन्दी—यमुना। छोहरियां—छोकरियां-लड़कियां। अधरन—होंट। बैन—बचन। गेहिनी—गृहिणी, नारी।

(तात्पर्य) श्री कृष्ण की अनन्य-भक्ति मुक्ति-विधायिनी है।

(५०)

अधर—नीचे का होंट। कनक—गेहूं। कनक—सोना। मादकता—नशा। दई-दई=हाय-हाय। दई—विधि। दई—दी।

(५१)

याचकता—भीख। रज—धूलि। मुनि-पत्नी—गौतमनारी, बापुरो—विचारा। नाद—शब्द,गान।

(५२)

जाले—जाने।

(५३)

ग़रीबनिवाज़—ग़रीबों की रक्षा करने वाले। अघ—पाप।

(५४)

द्रवय—पसीजे।

(५५)

रीते—रिक्त, खाली। पामर—मूर्ख।

(५६)

मग—मार्ग। दामिनी—बिजली। छमव—क्षमा करो। [म]नोज—कामदेव। पिक-बयनी—कोयल की-सी मधुर आवाज़ [वा]ली।

(५७)

बिसरायो—भुलाया। उदर—पेट।

(५८)

अम्बुनिधि—जल का सागर।

(५९)

विहंगम—पक्षी।

(६०)

दाख—द्राक्षा, अंगूर।

(६१)

हाट—हट्टी, दुकान। जेवरी—रस्सी। चेरी—दासी।

(६२)

तुहुं—तुम। अतएव—इसलिए। तोहार—तुम्हारा। आध—आधा। गमाओल—गंवाया। गेला-गये। निधुवन—रति। रमनी—स्त्री। चतुरानन—ब्रह्मा। तुअ—तेरा। भनए—कहता है।

(६३)

भुगुति—भुक्ति, भोग। मुकुति—मुक्ति। पर योषित—पर स्त्री। परसै—स्पर्श करे। तक्कत—ताकते रहें। द्रुग्ग—दुर्ग। प्रथिराज—पृथिवीराज। हिन्दवान-सिरताज—हिन्दुओं के शिरोमणी शिरोधार्य राजमुकुट।

(६४)

(१) एक क्षत्राणी अपनी सखी से कहती है—(बहिन) ए बहन,भला (भल्ला) हुआ जो मारा गया (मारिया), मेरा (म्हारा) कान्त (कान्तु) पति (युद्ध में) मैं लज्जित हो ली अपनी सखियों (वयस्थ) के बीच में, यदि (जइ) भागकर (भग्गा) वह घर आता शत्रु।

(२) जो, जो लोग (निअहि) निरखते हैं, देखते हैं नहीं पर-दोष, गुणों पर जो (पयडि अ) प्रकट करते हैं (तोस) तोष,— अपनी प्रसन्नता को वे लोग ही जग में (महाणु भावा) महानु भाव, महापुरुष कहलाने के योग्य हैं। ऐसे सरल स्वभाव के लोग विरले ही होते हैं।

(३) पर गुण गहण—पर गुण ग्रहण (पराए गुण ग्रहण करने वाले)

सदोस पयासणु—स्वदोष प्रकाशन (अपने दोष प्रकट करने वाले)

महु महुरक्खरहि—मधु-मधुराक्षर (बोलने वाले) (उवयारिण पडिकिओ वेरि अणहं—उपकारेहि प्रतिकरिय वैरिजन) वैरियों का उपकार करना ही उनसे बदला लेना है—ऐसा जिनका धर्म है (तूह पद्धडी मणोहर सुअणह) यह मनोहर (पद्धडी) पद्धति, मार्ग (सुअणह) सुजन अर्थात् साधुजनों का है!

परिशिष्ट

शब्द कोष तथा व्याख्या

वन्दे—नमस्कार करता हूं। मातरम्—माता को। मलयज—चन्दन। सस्य—हरी खेती। शुभ्रज्योत्स्ना पुलकित यामिनीम्—जिसकी रातें सुशोभित चांदनी से खिल रही हैं। फुल्ल—खिले हुए द्रुम दल—वृक्षों के पत्ते। त्रिंश कोटि—तीस करोड़, असंख्य। द्वात्रिंशकोटि—बत्तीसकरोड़ जनता,असंख्य । (भुजैः) भुजाओं द्वारा तीक्ष्ण तलवारें तुम्हारी रक्षा कर रही हैं, कौन कहता है कि माँ तुम अबला अर्थात् दुर्बल हो।

(२)

जयगाथा—जय का गीत

(३)

सागर जिसके चरण तल को धोता है हरी खेती रूपी अंचल जिसके अनिल अथवा हवा से डोलता है। जिसका मस्तक रूपी हिमाचल आकाश को चुम्बन करता है हे भारत ! तुम्हारे आकाश पर प्रथम बार सभ्यता का प्रभात हुआ तुम्हारी तपो भूमि में सामवेद का प्रथम गान हुआ, तुम्हारे ही वनों के आश्रमों में प्रथम बार क्षात्र धर्म दया सच्चा का प्रचार आरम्भ हुआ।

(४)

मानी—अभिमानी

(५)

गुलिस्ताँ—बाग, उद्यान। गुरबत—गरीबी। वतन—देश। हम-साया—पड़ौसी। पासबाँ—रक्षक। गुलशन—बाग़। रश्के-जिबाँ—देवता। भी जहाँ रहने की चाहना करते हैं, स्वर्गभूमि मज़हब—दीनधर्म। हस्ती—अस्तित्व सदियों—शताब्दियां। दौरेज़माँ—कालचक्र।

◆